ISSN 2230-7001
UGC Journal No. 47165

The Journal of Indian Thought and Policy Research

(द जर्नल ऑफ इण्डियन थॉट एण्ड पॉलिसी रिसर्च)

(English & Hindi Bilingual Research Journal)

Year: 8 Issue: 1 March-September 2018

राष्ट्र

Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth, Allahabad

ISSN 2230-7001
UGC Journal No. 47165

The Journal of Indian Thought and Policy Research

द जर्नल ऑफ इण्डियन थॉट एण्ड पॉलिसी रिसर्च

(An English-Hindi Bilingual Peer Reviewed/Refereed Research Journal)

Year :8 **Issue : 1** **March-September 2018**

Founder Patron
Shri Ashok Singhal
Patron
Dr. Mahesh Mehta

Advisory Board
Dr. Murli Manohar Joshi
Dr. Subramanian Swamy
Dr. Bajrang Lal Gupta
Dr. Mahesh Chandra Sharma

Editorial Board
Prof. Girish Chandra Tripathi
Prof. Susheel Kumar Sharma
Dr. J.P. Mishra
Dr. Chandra Mauli Tripathi

Editor
Dr. Chandra Prakash Singh

Editorial Address : Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth
21/16, Mahaveer Bhavan, Hashimpur Road, Tagore Town, Allahabad-211002 (U.P.)
E-mail : nationalthought@gmail.com Tel. & Fax : 0532-2466786

Cite this issue as : 8 JITPR (I) 2018

© Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth 2018

No part of this journal can be printed, published, photo copied, reproduced or stored in any retrievable system except with prior written permission of the proprietors of this publication.

It is clarified that the views expressed by the author of the articles published in the journal are their own and may not reflect the views of the Members of the Editorial Board.

Printed and Published by Dr. Chandra Prakash Singh at Allahabad for the proprietors, Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth, 21/16, Mahaveer Bhavan, Hashimpur Road, Tagore Town, Allahabad-211002 (U.P.)

CONTENTS

1.	संपादकीय	1-3
2.	Om Prakash Dubey **Spirituality, Science and Consciousness**	4-10
3.	Shashank Tiwari **Western Concept of Nationalism and Bharat in Western Eyes**	11-23
4.	Maria Wirth **Modern Indian Educations is Macaulay's Derivative**	24-42
5.	Dr. Sindhu Thulaseedharan **Gandhian Thoughts in the Working of Village Panchayats in India**	43-49
6.	प्रो. ओम प्रकाश सिंह **भारत में राष्ट्र भाव संचार - वैदिक काल से वर्तमान तक**	50-59
7.	ओम प्रकाश मिश्र **भारत 'राष्ट्र' की 'चिति'**	60-63
8.	अशोक मेहता **राष्ट्र का 'विराट'**	64-71
9.	अजय कुमार शाह **राष्ट्र की भारतीय अवधारणा : दीनदयाल उपाध्याय के संदर्भ में**	72-78
10.	डॉ. सुरेन्द्र कुमार **भारतीय अस्मिता में पर्यावरण चिंतन की निरंतरता**	79-87
11.	डॉ. संध्या वात्स्यायन **भारतीय अस्मिता की निरंतरता में हिन्दी साहित्य का योगदान**	88-95
12.	डॉ. ऋतु वार्ष्णेय गुप्ता **भारतीय संस्कृति एवं साहित्य**	96-98
13.	अमुक मित्तल **भारतीय संस्कृति : परम्परागत मूल्यों एवं आधुनिक मूल्यों का समन्वय**	99-102

संपादकीय

आज नेशन और राष्ट्र को समानार्थक मान लिया गया है और इस रूप में राष्ट्र एक ऐसा शब्द है जो सम्पूर्ण दुनिया में प्रयोग किया जा रहा है, परन्तु राष्ट्र एवं नेशन के बीच आधारभूत अंतर है,जिसका भारत के सन्दर्भ में स्पष्ट होना बहुत ही आवश्यक है। आज विश्व में अनेक राष्ट्र हैं तथा प्रत्येक दशक में कुछ राष्ट्र बढ़ते हैं कुछ घट जाते हैं। इन राष्ट्रों का अस्तित्व संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य राष्ट्रों की मान्यता पर आधारित है। कल किसी राष्ट्र का कोई हिस्सा अलग हुआ और उसे कुछ शक्तिशाली राष्ट्र एवं पिछले शताब्दी में स्वयं अस्तित्व में आयी संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ ने मान्यता दे दिया तो एक नया राष्ट्र खड़ा हो जाता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या राष्ट्र का अस्तित्व मानव निर्मित है? क्या राष्ट्र की मूलभूत इकाई राज्य है? क्या कुछ लोगों का असंतोष या विद्रोह किसी राष्ट्र का सृजन कर सकता है? क्या राष्ट्र के अस्तित्व के लिए केवल संयुक्त राष्ट्र संघ की मान्यता पर्याप्त है, आदि-आदि।

भारतीय सन्दर्भ में यदि विचार किया जाए तो भारत के लिए राष्ट्र शब्द अत्यन्त प्राचीन है। सभ्यताओं के उषस काल में जब आज के तथाकथित विकसित राष्ट्रों में सभ्यता की किरणें भी नहीं प्रस्फुटित हुईं थीं तब भारत में वैदिक ऋषियों ने राष्ट्रभाव का दर्शन किया था। वैदिक ऋषियों ने 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'[1] के रूप में जिस राष्ट्र के जागरण का उद्घोष किया वास्तव में वह राष्ट्र क्या है? क्या जिस राष्ट्र का दर्शन वैदिक मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों ने किया था उस राष्ट्र की मान्यता किसी संयुक्त राष्ट्र संघ ने दिया था?

भारत के लिए राष्ट्र मानव निर्मित नहीं अपितु सहज रूप से विकसित एक शाश्वत भाव है। दुर्भाग्यवश भारत की पराधीनता के कालखंड में परकीय सत्ताधारियों के द्वारा राष्ट्र के वास्तविक भाव को न समझने और ग्रहण न कर पाने की क्षमता या राजनीतिक चालाकियों के कारण 'राष्ट्र' के समानार्थी अंग्रेजी शब्द 'नेशन' का प्रयोग किया जाने लगा। यहीं से भारतीय बौद्धिक वर्ग में राष्ट्र और नेशन को लेकर एक विभ्रम उत्पन्न हो गया। किसी ने कहा भारत एक राष्ट्र नहीं है, तो किसी ने कहा भारत में बीस राष्ट्रियतायें हैं। कारण स्पष्ट था,पाश्चात्य ने भारत जैसे राष्ट्र या यह कहें कि राष्ट्र का ही दर्शन नहीं किया था।

पाश्चात्य नेशन जिसे राष्ट्र का समानार्थी माना जाता है वह एक आधुनिक अवधारणा है, जो चर्च से मुक्ति के लिए प्रोटेस्टेटों द्वारा किये गए संघर्ष के परिणामस्वरूप राज्य की स्वतंत्रता के रूप में उत्पन्न हुई और जिस क्षेत्र को स्वतंत्रता प्राप्त हुई वह अपनी स्वयं प्रभुता को नेशन के रूप में प्रकट करने लगा, इसलिए पाश्चात्य नेशन का स्वरूप भू-राजनैतिक (Politico-Territorial) है। जिनकी भाषा, वंश परम्परा और

1. यजुर्वेद-9/23

इतिहास एक समान था उन्होंने अपने-आप को एक नेशन घोषित कर दिया। पाश्चात्य नेशन की अवधारण का केन्द्रीय बिंदु राज्य है। पाश्चात्य चिंतन में राज्य के बिना राष्ट्र की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

दूसरी तरफ भारत का राष्ट्र भाव किसी संघर्ष का परिणाम न होकर निसर्ग का परिणाम है। जिस दिन भारत की भूमि पर विचरण करनेवाले मानव ने इस भूमि को अपनी माता के रूप में देखा उसी दिन भारत का राष्ट्र भाव प्रस्फुटित हो गया, जिसका प्रमाण मानव इतिहास के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद के द्रष्टा ऋषियों के इस उद्गार से प्रगट होता है 'भूमि मेरी माता है और मैं उस मातृभूमि का पुत्र हूँ'।[1] यही दृष्टि भारत राष्ट्र की भावभूमि का प्रथम बीज है। यही राष्ट्र के दैवीय चेतना जिसे शास्त्रकारों ने चिति कहा है उसके प्रथम मानवीय प्रकटीकरण का प्रस्फुटन है। सृष्टि के साथ सहजात राष्ट्र की यह चेतना राष्ट्र की वह आत्मा है जो उसकी सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, राष्ट्रीय पुरुषों के चरित्र ही नहीं अपितु उसके प्रकृति, पर्यावरण, नदी, पर्वत सभी के साथ एकत्व एवं अपनत्व का भाव विकसित करती है। इसी राष्ट्रीय शक्ति को वैदिक ऋषि ने राष्ट्र की सभी विभूतियों को एकता प्रदान करने वाली शक्ति 'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम'[2] के रूप में प्रकट किया है। राष्ट्र की सभी विभूतियों को एकात्म सूत्र में बाँधने वाली यह राष्ट्री शक्ति ही चिति है। यह संगमनी शक्ति चिति राष्ट्र की भौतिक समृद्धि, बौद्धिक ज्ञान एवं आत्मिक चेतना को एकात्म एवं संगठित कर राष्ट्र को प्रकट करती है। इस शक्ति का विराट के रूप में प्रस्फुटन ही राष्ट्र की संस्कृति, संस्कार, भौगोलिक स्वरूप, पर्वत, नदी, तीर्थ, वनस्पति, वृक्ष ही नहीं भूमि के कण-कण के प्रति अपनत्व एवं बलिदान की भावना उत्पन्न करता है। जब यही राष्ट्रीय चेतना कमजोर पड़ती है तब आपस में ही अंतर्द्वंद और संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। वैदिक ऋषियों ने स्पष्ट घोषणा है कि भूमि उन्हीं के लिए धन-धान्य, सुख-समृद्धि एवं वैभव रूपी पय (दुग्ध) का स्रवण कराती है जिन लोगों में मातृ-भाव होता है।[3]

राष्ट्रीय चिति के जागृत रहने पर राष्ट्र हित एवं व्यक्ति हित के बीच कहीं कोई संघर्ष नहीं रहता। राष्ट्र कल्याण में व्यक्ति कल्याण और व्यक्ति कल्याण में राष्ट्र कल्याण की भावना एकाकार हो जाती है। जब इस राष्ट्रीय चिति का जागरण हो जाता है तब सम्पूर्ण राष्ट्र अपार उर्जा एवं सम्पूर्ण ऐश्वर्य व वैभव के साथ एक लय में अपने विराट का प्रकटीकरण करता है। इसी अवस्था के लिए वैदिक ऋषि ने कहा है 'तुम्हारे विचार समान हों अर्थात तुम्हारे लक्ष्य और उसे प्राप्त करने के विचार समान हों। तुम्हारी सभा समान हो अर्थात सभा में किसी के साथ पक्षपात न हो। तुम सभी का मन और चित्त एक समान भाव से भरा हो अर्थात सभी लोग एक विचार होकर किसी भी कार्य में एक मन से लगो। मैं तुम सबको समान मन्त्र और भोग प्रदान करता हूँ।[4]

1. माता भूमि पुत्रोऽहं पृथव्याः -अथर्ववेद-12/1/12
2. ऋग्वेद-10/125/3
3. सानो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय में पयः -अथर्ववेद-12/1/10
4. सामानो मन्त्रःसमिति समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम।
   समानं मन्त्रभि मन्त्रये वः समानेनवो हविषा जुहोमि ऋग्वेद-10/191/3

अतः स्पष्ट है कि बिना एक भाव, एक चेतना और एक मन के समाज भोग प्राप्त नहीं कर सकता और इस एकता का प्रकटीकरण ही राष्ट्र का स्वरूप है, जिसमें सभा या राज्य एक घटक मात्र है।

पराधीनता के काल-खण्ड में मैकाले द्वारा स्थापित शिक्षा प्रणाली ने हमारी राष्ट्रीय चेतना को भ्रमित कर दिया, परन्तु यह खेदजनक है कि स्वतंत्रता के बाद भी इसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया जा सका, अपितु इसके पश्चात् पूंजीवाद और साम्यवाद की वैचारिकी को ही विद्वता सम्पूर्ण कसौटी मान लिया गया। यह शिक्षा प्रणाली हमारे समाज को राष्ट्र की मूल भावना एवं चेतना से अवगत कराने में असफल रही है। आज इसी का परिणाम है कि देश में आतंकवाद, अलगाववाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, जैसी अनेक विकृतियाँ समय-समय पर यत्र-तत्र खड़ी होती दिखाई देती हैं। इसके लिए आवश्यक है कि राष्ट्र की वास्तविक चेतना एवं स्वरूप से समाज को अवगत कराया जाए। इस हेतु से 'द जर्नल ऑफ़ इंडियन थॉट एंड पालिसी रिसर्च' का यह अंक 'राष्ट्र' विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इस अंक में अरुंधती वशिष्ठ अनुसन्धान पीठ द्वारा समय-समय पर आयोजित राष्ट्र विषयक संगोष्ठियों में प्रस्तुत कुछ आलेख तथा विद्वानों एवं शोधार्थियों द्वारा राष्ट्र के विभिन्न पहलुओं पर लिखे आलेख प्रकाशित किये जा रहे हैं। आशा है राष्ट्र विषयक मीमांसा को आगे बढ़ाने में यह अंक उपयोगी सिद्ध होगा।

चन्द्र प्रकाश सिंह

डॉ. चन्द्र प्रकाश सिंह

Spirituality, Science and Consciousness

Om Prakash Dubey[1]

Spirituality provides an elaborate background to demonstrate that there is a different dimension of reality, including the reality of existence of God, who can be percevied by the spiritual senses and spiritual mind. Thus a scientist who has some background in spirituality has no difficulty in seeing the different roles that spirituality and science provide in the search for knowledge. Both are complementary to each other. At present, most scientists are not exposed to spirituality. Hence there is an important need to bring in the paradigm of spirituality in scientific study.

Spirituality explains that matter, however complex it may be, will never generate consciouseness, the inherent symptom of life. Therefore, the spiritual view of life is quite different from the scientific world view of life. Modern science has not yet come to this understanding.

The concpet of time and space is extermely important in both spirituality and science. In a materialistic worldview, time has beginning and cosmologists say that time started along with the so-called Big-Bang theory. This is the conceptual frame work regarding the beginning of our universe according to the opinion of modern comologists. According to spirituality, time has no beginning. It is external and the impersonal aspect of the Supreme Being. All the material universes have manifested because of a Big Vision and not by a Big Bang. All these manifestations have a beginning as well as an end. This is the symptom of the metrial nature. Just like all our material bodies have begninning and also have an-end.

It is beyond any doubt that the materialistic attainments of the human mind in the present are very wounderful and they make us think of the highest degree of the intellectual penetraction of mystery of the nature, but at any rate this cannot be maintained

[1] Om Praksah Dubey, Man Power Development & Management Consultant

that matter is all-in-all and is at the root of this worldy phenomenon. It should be borne in mind that it is not the matter that has penetrated the mystery of matter. If one thus tries to see the thing in true perspective the conculsion will arise totally contrary to that of the materialistic point of view. It will lead to a firm belief that human spirit is supreme to matter and its play. Human spirit is the main seat of intelligence, and discrimination. In the play with the nature man has exploded the deep material mystery.

All our knowledge is based upon experience. What we call inferential knowledge, in which we go from the less to the more general or from the general to the particular, has experience as its basis. In what are called the exact sciences people easily find the truth, because it appeals to the experiences of every human being. The scientist does not tell you to believe in anything, but he has certain results which have come from his own experiences and, reasoning on them, when he asks us to believe in his conclusion, he appeals to some universal experience of humanity. In every extact science there is a basis which is common to all humanity, so that we can at once see the truth or fallacy of the conclusions drawn therefrom. Now, the question is : Has spirituality any such basis? Probably the answer is both affirmative and negative. What right has a man to say he has a soul if he does not feel it, or that there is a God if he does not see Him? If there is a God we must see Him, if there is soul we must perceive it, other wise it is better not to believe its existance.

In acquiring knowledge we make use of generalization, and generalization is based upon observation. We first observe facts, then generalize and then draw conclusion or principles. The knowledge of the mind i.e. consciousness, of the internal nature of man, of thought can never be had until we have first the power of observing the facts that are going on within, It is comparatively easy to observe facts in the external world, for many instruments have been invented for the purpose, but in the internal world we have no instrument to help us. The science of consciousness in the first place, proposes to give us such a means of observing the internal states. The instrument is the mind itself. The power of consciousness, when properly guided and directed towards the internal world, will analyse the mind and illumine facts for us. The powers of the mind are like rays of light dissipated, when they are concentrated they illumine. What is the use of such knowledge? In the first place, knowledge itself is the highest reward of knowledge and secondly, there is also utility in it. It will take away all our misery. When, by analysing his own mind, man comes face to face, as it were, with something

which is never destroyed, something which is, by its own nature, eternally pure and perfect, he will no more be miserble, no more unhappy. All misery comes from unsatisfied desire. There is only one method by which to attain this knowledge, that which called consciousness.

Bhagwan Mahavira did not believed in God. He believed in the still, sad music of humanity. He held the view that every person can become a God by purifying his soul. Mahavira believed in an egalitarian society without distinction of caste, creed, colour and sex. He gave us the sublime message of Ahimsa. He believed that all living and non-living beings have a soul and as such we should not harm or kill anybody. Mahavira has given us the message of equality without any distinction, to love not only human beings but water and earth, plants, trees, animals and other non-living beings, and has contributed to the world the message of divine love through the concept of Ahimsa:- "Live and let live".

India was a great nation in the past because our ancestors had a scientific approach to the philosophy of life. It is that which gave our people the inner strength. Spirituality for them meant faith in the oneness of all creation. Since the self within is the common denominator of all human beings, it was obvious to our ancestors that can be no place to inequality and discrimination in society. This sense of oneness gave them immense strength.

Our greatest strength was the character of our people and the purity of their personalities. Seeking the purity of the self within was the main objective of Indian philosophy. This approach to philosophy enriched not only India but the whole of Asia. This was also the approach of Buddha. He rediscovered the science of the human mind. And he also taught to make full use of all the mind power through self-purification.

Life without love is a waste; each one of us should cultivate love towards all beings, man, bird and beast. If we are full of this universal love, we shall feel no sorrow, Ahimsa in thought, word and deed is outward expression of this universal love. Love and compassion to all beings should fill our hearts always. Where there is love, there is the expression of divinity. Even as a light behind a screen become visible in all its splendor when the screen is removed, so too, there is an effulgence of love when evil desires, hatred and anger are removed from the mind.

Mind is not altogether matter, nor is it altogether sprit. It is a mixture of both, therefore in all our mental impressions and perceptions we must have the combined

effect of the two. This is why with the mind we cannot see sprit, nor can we wholly lose sight of it. Whenever we taste any happiness, we may always be sure it comes from spirit, while we are unhappy, we may know that the cause is to be found in matter. This creates is bitter-sweet and that is what life is. The bitter comes from material side of our nature, the sweet from the spiritual side. The more the material side predominates over the spiritual, the more miserable must we be. If we would escape from our misry, we must work hard to give a preponderant place to spirit. In this world the material factor has been cultivated at the expense to the spiritual.

All living beings are endowed with organs of diverse sorts and of various dimensions by means of which they enjoy life. Life seems to be worth living for the enjoyments which it holds out to all, and all these enjoyments are seated in the sense.The sensuous pleasures, therefore, are the only attractions for every living beings to attach him to this world and these very sense also are the causes of his ruin. Because these senses are the only means of our enjoyments, therefore all living beings are slaves to them. Pleasure is the one thing which we love and pain is what we want to avoid. Our life is a constant struggle to avoid pain and court pleasure. Moreever man is endowed with the reasoning power by means of which he can distinguish what is right and what is wrong, what is pleasurable and what is painful, and also how to get the greatest amount of pleasure with the least amount of exertion, whereas the lower animals, are simply guided by their instincts which are very limited and as such can only give them a very limited idea of pleasure and enjoyments of the world are open to man.

By means of the ladder of morality alone, can a man expect to get rid of his brutish life and get back his higher or godly life. The light of morality when begins to shine and light the path leading towards the Truth. He then clearly understands the meaning of Bhagwan Sri Krishna's priceless words to Arjuna, that all material enjoyments are the sources of our misery in as much as they have a beginning as well as end. The consciousness desires to enjoy the pleasure permanently. He then searches after perennial bliss, a bliss which will last to eternity. When consciousness become pure and consequently only wants to associate itself with pure and holy things. The downward course of the senses is stopped and they all flow towards the attainment to Truth and Bliss. When consciousness and senses act in harmony and consciousness becomes free. It gives place to enternal calm, and in that calm, the true image of the self, or God, or Truth is reflected. The entire man is then filled with Divinity. He is no

longer a slaves of senses, but a master. He alone is termed a great man.

The permanent state of all living beings is calmness, calmness and sameness are synonymous. When a man change from one condition to another in rapid succession he is said to be perfectly restless. But when a man remains in the same condition without any change, he is said to be perfectly calm. Calmness and sameness are one, and is known as the monistic consciousness. Through the consciousness, unlock the shrine of infinite bliss and enjoy the treasures of infinite life, bliss and wisdom.

Its creation is an accidental phenomenon, as suggested by many scientific theories, then there is nothing to worry about the destiny of human beings. The creation will go through its own natural cycle. If the mind is born out of matter, the destiny of human beings is not of much significance. If the sprit has come out of flesh, it makes sense only to worry about the flesh. However, if we subscribe to the spiritual world-view, the consciousness is the source of the flesh or the matter. The world is then the by-product of the spirit. On the contrary, if the matter is the source of the spirit, consciousness is the by-product of the matter. In our experience we find that subtle is the cause and gross is the effect. In the creation of cause and effect, it seems more rational to subscribe to the idea of spirit being the cause of matter.

When we think of human beings, we just do not think of human bodies but the complex integration on body, mind and intellect. It is also our common experience that human beings are gregarious by nature. This attribute of human beings requires them to from some common code of conduct beyond the instinct of survival. Human beings are endowed with the faculties of rational thinking and creativity. The rational faculty provides the basis for all scientific developments. However, the creative faculty is at the root of major break through in science and technology or in other field of knowledge. The spiritual experiences of human beings are at the root of philosophy of life. These experiences have revealed certain values that provide a sustaining power for human beings to unfold their higher potential.

All human institutions are existence to one intrinsic value, without which all units will crumble and perish. We call such intrinsic values as eternal values. All human relationships are based on trust. The trusting relationships are healthy, happy and conducive to harmony and growth of the individuals and the society. This intrinsic value is called integrity. Integrity of human character is at the root of human happiness. The need of integrity is therefore emphasized in every religious spiritual, moral or

ethical society. The intrinsic values from the core of any spiritual teachings. Integrity is an eternal value because it is the sustaining power of all human existence from the origin of human life and will be for the future. It is universal value because it applies to all human relationship everywhere in the world.

Human beings are distinct from the rest of the animal world because they are capable of showing compassion. Compassion is attribute of a sensitive mind. Compassion is at the core of human beings ability to sacrifice. The more evolved the mind is, the more it is in tune with the rest of the creation. This healthy mind is capable of transcending the world of thoughts and emotions. The healthy mind is the whole mind. It becomes one with the universal mind and thus sees oneness everywhere. Compassion flows fully in these human beings. Bhagwan Buddha and Bhagwan Mahaveer are therefore unique. They have become the living incarnation of compassion. All human beings have to be healthy in body and mind. The result will be the flow of compassion. Compassion therefore in an intrinsic value, an eternal value and an attribute of spirituality.

Science has dominated the mind and thinking of people generally in all walks of life. This is the age of science and mind has penetrated the unfathomable mystery of nature. It is beyond any doubt that the materialistic attainments of the human mind in the present are very wonderful and they make us think of highest degree of the intellectual penetration of the mystery of nature, but at any rate this cannot be maintained that matter is all-in-all and is at the root of the worldly phenomena. It should be borne in mind that is not the matter that has penetrated its mystery but it is the human spirit and its mind that has penetrated the mystery of matter. If one tries to see the things in true perspective the conclusion will rise totally contrary to that of the materialistic point of view. It will lead to a firm belief that human spirit is supreme to matter and its play. Human spirit is the main seat of intelligence, and discrimination.

It is an undoubtable fact that science is necessary to fulfil the necessities but at the same time it is not out of danger to depend wholly on it. Human needs can be fulfilled by exploiting the sources of nature. But this exploitation of nature does not imply that humanity in doing so, be robbed of its own existence, Science makes us competent in exploiting nature but it does not make us able to avoid being swept out of our own selves. In this age of lofty scientific achievements man is attempting to add to his knowledge by highest pursuit of the scientific study but in this struggle and headlong

pursuit be has been losing the contact of his ‘’self’’. Spirituality is a pure theology where science and philosophy meet together. In this term of understanding true science is the verification of principles which are taught by true spirituality. True science is a check as blind faith and superstition. Spirituality on its parts makes the science constructive and productive. A man’s action may be compared to the flight of a bird, which needs three things- two wings and a tail for its graceful movement. By means of the wings it balances itself in the air and by the tail it keeps its course. In a man, spirituality and science are the two wings, and consciousness the tail. When these function harmoniously, action becomes graceful.

******

Western Concept of Nationalism and Bharat (भारत) in Western Eyes

Shashank Tiwari[1]

Introduction For a very long time the academic establishments of our country credited the British colonizers for making Bharat into a 'nation'[2]. They would count the factors as apparent as the fragmented polity of Pre-British times and the enormous diversity of language, region and visible culture throughout the country as the testimony of Bharat not being a 'nation'. Their assumptions that, a nation must have a singular centralized state and it also must have a common linguistic and cultural identity, are certainly the 'take-away' from European conception of 'nation' and 'nationalism'. For Europe, concept of 'nationalism' is a very modern and recent phenomenon. Somehow, the European 'nation' has been pitched to be regarded as equivalent of the Vedic word 'राष्ट्र' (Ra_shtraa_). This misconception involving transliteration of 'राष्ट्र' into 'nation' has caused unprecedented damages to our society. Our society and its people were forced to assume that their Bharat is actually a derivative product of the magnanimity of the great White colonizers! This just did not only hurt our collective morale, but it also incited us to see ourselves as fragments which have been put together during colonial period. Our unity of the country as 'राष्ट्र' was seriously undermined by the imposition of the Western conception of 'nation' and 'nationalism' on our psyche. This paper attempts to analyse the 'elements of confusion' which have been created around the identity Bharat as a rashtra.

[1] Research Scholar at Department of Political Science, University of Delhi

[2] Sudipta Kaviraj, The Imaginary Institution of India, 2014.

Western concept of Nationalism

The 'nationalism' is West has been theorized and re-theorized with the qualitative changes in the European context. The Western understanding of nationalism is based on their own interpretation of their history. They believed that the Nation is the child of socio-economic and political conditions of the Europe in 18-19th century. Nationalism is seen as one of the many off-shoots of modernity like capitalism, secularism and supremacy of rationality as the only legitimate model of enquiry.

Western scholars have perceived nationalism as a politically constructed group sentiment which was based on a shared common language, culture, history…Sharing of the history and geography and being part of same political community (State)…created a distinct identity for all these groups which developed common national traits. These groups or collectives organized their politics and economics in accordance to their social and historical experience, and their contemporary needs. For Europeans, language was the most prominent marker of their identity; therefore language became basis of their nationalism. No two European countries spoke the same language.

They perceive nationalism as an ideology which seeks commitment of all the individuals constituting the group or collective towards the perpetuation of the interest of the nation. They also see the nation as a social product of the political action of the State[1]. For them, nation cannot be separated from the State. The western understanding says that the nation-state is a politico-social body where the nationality of the individual completely overlaps with his citizenship. Nationalism lies in the feeling of oneness which is viewed by the European Intellectuals as the channelization of the individual interest towards a common collective interest, and thus the nationalism for Europeans is a 'means' to increase the efficiency of the collective. The Europe, not being a land with abundant resources, is the restricted by the need of the very efficient management of the limited available resources. This forces them towards more sophisticated forms of organization which includes establishment of strict order in the society, and seeks homogeneity as a desired value. The western scholars conceived nationalism as a utilitarian tool to maximize the gain of the new innovations which were taking place in the industry, trade and commerce.

Since the European nationalism was based on the idea of creating a distinct national identity, it was natural for it to grow animosity against 'others'. The European

[1] David Held, Theorizing the Modern State, 1989

nationalism was 'Xenophobic'**.** The growing competition in the commercial sphere, coupled with the animosity between the nations led to deadly wars, entrenched hatred and lot of bloodshed. The European Nation-states had 'organized' political and economic structures, which was backed by a well-trained and organized army.

The European nations developed expansionist motives and applied legitimate, illegitimate, moral as well as immoral means to capture the nations of Asia, Africa, and Latin America. They started forming colonies in these areas for plundering of economic resources and making these areas as mere markets. Since these 'nations' were very different from 'European' nations, they were not organized as political community. For a mind of our generation, it is very difficult to imagine that these 'nations' didn't have the feeling of Xenophobia in those times. Many of them, in fact, were quite welcoming to the colonizers, before they could actually realize their motive. The successful colonization of Asia, Africa, Australia, and Latin America incited the European nation-states to turn their colonies into part of their empire. **The Xenophobic nature of European nationalism and their expansionist desires for fulfilling their material ambitions are well recognized, acknowledged and documented in the writings of Hans Kohn, Eric Hobsbawm, Ernest Renen, Benedict Anderson and Anthony D. Smith.**

Benedict Anderson[1] applied the psychological approach to explain western modern nationalism. He claimed that Europeans were made to imagine themselves as the constituent part of their respective nations. He factors in the role of print capitalism which catered information to the people in now-standardized 'national language' and help them in sharing common experiences. The consumption of the same media made people to recognize the commonality of their culture and language, and ultimately molded people into a nation, and thus nations of Europe came into existence.

Eric Hobsbawm[2] says that the political elite of the different sizeable linguistic groups of Europe organized them into a political community and started to lay foundation of new practices and customs which had strong resemblance with the history. They did this in order to create a sense of historical continuity which they required for asserting their current political legitimacy.

There is a consensus among the Western philosophers that their conceptions of nationalism do not apply to the realities and particularities of the Eastern world, and

[1] He termed nations as 'Imagined Communities' which were produced through 'print capitalism'.
[2] He has done the Marxist analysis of the social conditions which produced 'nationalism' in Europe.

most importantly in regard to civilizational state.

In fact a scholar like Anthony D. Smith has tried to separately analyse the nationalism of the Oriental societies and termed it 'ethnic or primordial nationalism'. Even he underlines this fact that the role of interpretation of historical process is most important in the conceptualization of nationalism.

EURO-CENTRISM IN THE DISCOURSE OVER NATIONALISM:

It is one of the most unfortunate facts for the independent India that the Liberal-Left continued to malign abuse and categorize the nationalism in India as parochial and jingoistic when even the Western academia had accepted the distinction between the Western notions of nationalism and the Eastern notions of nationalism. This was a direct result of the 'Eurocentric' hangover. The control over interpretation of history has led to a unipolar interpretation of history, and disallowed other possible interpretations of history to thrive. They have systematically eliminated the alternative explanations from the discourse. From the western conceptualization of history, we can observe four major trends:

1. None of the western scholars rejects nationalism as a bad faith. They are simply trying to explain the emergence of nationalism in their society on the basis of certain pre-established assumption.
2. They have taken the resort of history to examine the circumstances of the 19th century Europe. They are relying on the certain kind of interpretation of European History. Their explanation can naturally loose relevance as soon as the European history is subjected to an alternative narrative.
3. Their explanation of nationalism is based on the material interpretation of the history which means that they believe that the idea of nationalism in its intangible form and the emotions attached to it are actually a product of material conditions. This leads to inference that as soon as the material conditions undergo substantive change the nationalism in European context gets diluted and subsequently vanished.
4. They have read nationalism as a uniformity seeking, order-obsessed and homogeneity based politically constructed and materially conditioned idea. This means that they perceive diversity and heterogeneity as antithetical to nationalism. This also means that homogeneity is conducive for nationalism.

If we do an analysis of the arguments of the Western scholars about their society, we find that their argument verifies to the demand of rational structure. The creation of nation-state in Europe was motivated by the material and economic factors. As soon as the European Countries lost the option of sustaining their economy by directly extracting the benefits from the colonies due to the process of decolonization in the mid of 20th century, they were forced to look for some other model of organization gradually replacing the nation-state. All through the second half of 20th century, the major countries of Europe, abandoning their feel of hatred against each other and all sorts of xenophobia tried to come together to form associations to safeguard the economic interest. The supra-national institution like European Union was formed and an era of post-national world was allegedly heralded by its creation. We can clearly see that for Europe and the larger west, the material and economic factors are the main drivers of the behavior of individuals as well as their group behavior. The European nation-states readily surrendered to the supremacy of the supra-national institution by shedding an important portion of their political sovereignty.

Jean Monnet, regarded by many as the 'father of European Integration', declared on 5th August 1943, "...the countries of Europe are too small to guarantee their people the necessary prosperity and social development. The European states must constitute themselves into a federation." European Union, as we know it today, has evolved over a period of about 70 years, through various multi-lateral treaties. European Union is a certain departure from the model of National regimes[1]. The Europe choice to move away from the nation –state model when that model started losing the capacity to marshal the resources[2] clearly verifies to the assumption that for them the Nationalism was a temporary phase, which was very different from the conception of nationalism for the India, where the material factors have nothing to do with the national spirit.

'BHARTIYA RASHTRAWAD' IN WESTERN EYES:

The nature of the Indian society is altogether different from that of Europe. In no ways, the super imposition of the European epistemology over the Indian context can be justified. Since the **modern academic culture in India has developed under**

[1] Theresa Kuhn, Experiencing European Integration: Transnational Lives and European Identity, Oxford University Press, 2016

[2] Chris J. Bickerton, European Integration: From Nation-states to Member states, Oxford University Press, 2013

the tutelage of colonial academics, the 'traditional' intellectuals in India (in terms of Antonia Gramsci) not only inherited the biases and prejudices of the Western scholarship, but they also inherited the analytical tools and methodology. They tried to understand the Indian history as a reflection of the Western History. They invested huge amount of energy in locating the resemblances between the trajectories of two very different contexts. The derivative scholarships led by the Liberal-Left intelligentsia in India in its most charitable form suggest that the Indian nationalism is the product of freedom struggle. They claim that the struggle against the common enemy united the people of Indian sub-continent who were two categories, different in nature and content. The only common factor uniting them was the sharing of a common pain of being subjugated politically and economically by an altogether alien power. Their explanation of Indian nationalism suggests two further inferences:

(a) They indicate that there is a reactionary element in Indian nationalism. It was produced in response to an entirely distinct identity, and it relies on Xenophobia.

(b) They also indicate that there was temporality in the Indian nationalism. As soon as the common enemy disappears, the reasoned ground for nationalism is also lost. Hence after the retreat of Britishers, the Indian nationalism no longer remains potent and legitimate.

The above explanation is very linear and reductionist. It is based on the following wrong presumptions:

i. Nationalism has been assumed to be equivalent to the organization of population for the formation of common political community. The western understanding regarding nation essentially hinges on the idea that the nation must be inevitably backed by a state. Thus nationalism must be political in nature, and it requires to be constantly nurtured by a State. Here we claim that nationalism can be entirely delinked from the State. Historically, the Indian sub-continent is constituted by different sovereign political communities, but they constituted the nation. In our context, the nation is eternal, and the State(s) is temporal.

ii. Their explanation of Indian nationalism takes into account only the political and economic factors, while the cultural and spiritual factors are completely ignored. The dominant academia in India is applying the derivative epistemology and the methods of materialistic analysis to understand the Indian nationalism. This makes their study erroneous.

iii. The use of nation as a translation for राष्ट्र is problematic because the 'nation' for

them is based on the material, physical and territorial notion. On the other hand the essence of 'rashtra' (राष्ट्र) lies in the realm of idea. We are a nation not on the basis of tangible bodily factors, but on the basis of intangible, spiritual and cultural unity.

iv. The explanation of Indian nationalism done by liberal left intelligentsia in India has presented Indian nationalism as homogeneity-seeking and worst homogeneity-imposing. This flaw in their explanation is directly coming from their understanding being rooted in the Western Epistemology. The Bhartiya rashtra has always been very accommodative of eccentricities and genius of local faiths, cultures, customs as well as local laws. Our Rashtriya Samskara lies in the celebration of differences. Our comfort with enormous diversity is a source of astonishment for Western eyes. They have not seen such a wide range of diversity in a single national community, and thus they find it very difficult for them to technically consider us as a nation in European sense.

How Tagore's criticism of European Nationalism stands manipulated

The Liberal-Left intelligentsia in India has done the marketing of the Rabindranath Tagore's criticism of Western nationalism to score brownie points in the discourse on 'nationalism' in India. Along with Tagore, they have also presented the views of Md. Iqbal to counter the arguments in favor of Bhartiya Rashtra. Mohd. Iqbal has very harshly criticized nationalism. He was very passionate about Islamic philosophy, and he believed that the very idea of nationalism is anti-Islamic because for a Muslim, nationalism necessarily hinder his commitment to the Islamic Ummah (it was a universal Islamic Community). He also said that the nation-state endeavors for homogeneity, and therefore it becomes inhospitable for minorities. He was the biggest bane for Muslims as he believed that the Muslims should never be a nationalist. Similarly Iqbal was against the idea of democracy, secularism. Iqbal has used choicest of abuses for Nichollas Machiavelli whom he regards as the father of secularism (division of ethics and politics) as well as father of nationalism. But the irony dies hundred times, when we see that Iqbal himself is demanding a seperate nation for Muslims in the Indian sub-continent. Pakistan considers him as its philosophical power. Thus, we see that Mohd. Iqbal's criticism of nationalism is limited to a very specific vantage point and carries a lot of internal contradictions.

Rabindranath Tagore criticized nationalism (European) from a humanistic point

of view[1]. He believed that from experience of Europe, it was clearly evident that nationalism was based on the concept of power, and it was subjected to imperialist demands of a nation. He considered the existence of nation (European) as a xenophobic idea which is enmeshed with lust of power and hunger of territory and resources. The existence of such an idea would obviously curb down the individual freedom and the creative genius of human beings. Free thinking and artistic expressions will cease to grow, and thus the soul of the human society will get stagnated and decay. Tagore's humanistic approach and his concerns for development of humane value is completely justified and it is a note of lesson for us.

Interestingly, we observe that where **Tagore is criticizing the European nationalism, he is praising the American nationalism.** He is saying that America is a nation which has body of west but soul of East, where the State is based on power, but it leaves sufficient scope for the creativity of the constituent individual culture to have unhindered expression and look forward for further development. The letter-exchange between Tagore and Gandhi is often misrepresented as a debate on the nationalism where the division lines were drawn very sharp. **The conceptual soul of Nationalism for both Tagore and Gandhi was aimed at reigniting of the Rashtrabhaav which will be different from the European nationalism which is a sort of aggrandizing mission. For both of them, Rashtra-bhaav is the cornerstone around which the idea of nation must be weaved, and the natural creative genius of human beings must be the given the highest priority within the dynamics of nation.** Gurudev believed that the development of arts, human sciences and human development lies in the core of Rashtra-bhaav. Tagore has clearly mentioned his discontents with colonial interpretation of Indian history. He has very rightly recognized the prejudices of the European mindset entering into the narration of Indian history, and the general social theory. By his own writings, Gurudev challenged the European interpretation of history. The efforts to misappropriate the writings and ideas of Gurudev by the Liberal Left Intelligentsia smacks of academic dishonesty and malicious intention to promote fissiparous tendencies in India.

Problem lies in the writing and interpretation of History: The documentation of the history of our Rashtra was done by Britishers. They cleverly discredited the original sources of historical information. They declared the historical ancient texts as

[1] Rabindra nath Tagore, Nationalism, 1917.

works of fiction, and hence not legitimate for academic enquiry. Gradually, the only source of historical knowledge left were the colonial accounts which had the following huge problems: (a) manipulative intent of the rulers, (b) the lack of understanding and sensitivity about the context, (c) these writing were informed by the sense of cultural superiority, (d) the primary aim of colonial history was to demoralize the civilization. The texts like Arthashashtra of Chanakya (it was rediscovered by Jacobi, a German scholar in 1904)[1] managed to impress the Western as well as Indian audiences on the basis of the strength of its classical content. When the colonial interpreters could not suppress the fame of such texts, they tried to create confusion around them.

The present Indian academia still carries on to use the colonial history writings as the most authentic resource, and has done very little to find alternative resources. The debate on nation and nationalism will not be a fair debate, until and unless, the field of history writing is democratized. The schools of history which do not subscribe to Leftist orientations must be given fair access to the research facilities in modern Indian universities. They should not be discriminated by the communist practitioners of academic feudalism. In last 60 years, the followers of this particular ideology have tried to paint the Indian history in the color of their desire, i.e. red. They won't allow fair access to all and keep on eliminating the opinions unpleasant to them. We need to make very serious collective efforts to reclaim and free the modern academic spaces from them. This is an inevitable prerequisite for a healthy debate on nation and nationalism. The notion of Rashtra cannot be understood unless we completely 'decolonize' our mind and develop an epistemology which accommodates our contextual sensibilities[2]. For Europeans, the nationalism gave birth to nation. For them, nation is an ideology whose main dimensions are political in nature. Perhaps, because the political nature of nationalism, they see it as a rigid ideology. Since there are conflicting claims in the interpretation of European history, we would like to leave it to them, to resolve their contentions about nationalism.

Indigenous view of 'nation' :

India, on the other hand, is a Rashtra which is eternal and ageless. Most importantly, the Rashtra in India is not dependent on the Rashtravaad. In fact, Rashtravaad is a term associated with the allegiance of individual towards Rashtra.

[1] From Prof. C.R.Rao's chapter on Chanakya in 'Indian Political Thought' by M.P.Singh and Himanshu Roy

[2] Rakesh Sinha, Swaraj in Ideas, 2016

Rashtravaad defines the relationship between individual, people as 'community' and the Rashtra. The essence of Rashtravaad lies in the individual's commitment for his nation, and his realization of the supremacy of Rashtra in his life. Rashtravaad signifies the personal commitment towards the Rashtra, but even greater and broader idea is that of Rashtrabhaav which not just involves the personal commitment towards Rashtra, but it also includes our relationship with the infinite human, non-human, tangible, intangible, physical and meta-physical constituents which make the content of Rashtra. Rastra is an indestructible soul which is ageless, dynamic, and it is free from the limitations of time and space. Rastra lays in the inner most core of the consciousness of a Bhartiya. The relationship between the constituents of Rashtra is mediated through the Rashtrabhaav. Contrary to the Western notion of human nature, we trust in the basic nicety of human beings. The Rastra-Bhaav includes the man's relationship with nature. Since, the times immemorial the human beings cultured in Bhartiyata, have respected and worshipped nature and considers it as the part of their Rastra. Rastra-bhaav links the human beings with their civilizational values and constantly inspires them to enterprise for a collective future. Rashtra-bhaav involves focus on richness and authenticity of the individual cultures. It is an intangible social glue which accentuates the higher human values and love for nature. Additionally, it also enriches the cultural and the civilizational aspects of collective human life. Our cultural forms and its expressions may vary but our basic Samaskar (sacrament is incorrect expression) signifies the remarkable continuation.

One of the core principles driving the Rashtra-bhaav lies in the following lines of Rig Vedas — **'Ekam Sat Vipra Bahuda Vadanti'**. This means- "Truth everywhere is same; the devotees worship it in different forms. The other meaning of this Sanskrit couplet is "the thought of truth everywhere is the same, we have understood only a part of it, and others have understood the other part of it." **We believe that people as collectives and as individual might have varying notions of Rashtra-vaad, but all such notions must fundamentally be in coherence with Rashtrabhaav which stresses on the pluralistic nature of Bharat, the indestructibility of Bharat, the civilizational content of Bharat, and above all, the welfare of all Bhartiyas. This Rashtra-bhaav is natural and spontaneous.**

Shri Guru Ji[1] has observed that the manner in which the leaves, flowers, buds,

[1] Golwalkar, M.S (2000) "Bunch of Thoughts", Bangalore, Sahitya Sindhu Prakshan

stems, roots and branches are all different in quality and expression, yet they all are inherently made of same element, similarly in Bharatiyata, all the constituents may have varying qualities, nature and expression, but there lies an inherent oneness and unity. Despite an apparent diversity in the expression of culture, there lies a unique inter-relationship among all the cultural communities in Bharat. The inter-relationship is not only because of over-lapping of constituencies of different cultural groups, but also because of the common meaning hidden behind the different cultural customs. The heroic leaders of our society have shown a commonality in their consciousness all through the ages.

BHARAT ' 'अजातशत्रु' राष्ट्र (The One without Enemies)

As per **Shri Guru Ji**[1]**, Bhartiya rashtrabhaav has a sense of Ajatshatru** i.e. the one who has no enemy, who is concerned with gaining strength, but does not intend to use it against any country enemy or race or ethnic group. Even during the riots in 1947, Shri Guruji has asked swayamsevaks, "The people with different thought processes are also part of our society, irrespective of whomever they are, they have also worked and sacrificed for the welfare and good of the country. We must inculcate and imbibe harmonious and fraternity-full relation with them." He has observed this in January 14, 1948 at Mumbai. We believe that the Rashtrabhav of Bharat is a spirituality-based cultural nationalism. This was told by **Guru Ji** in January 1963 on the birth anniversary of Swami Vivekananda Ji. In this understanding of Rashtrabhav, the individual, society and Rashtra are not seen as separate entities. The element of absence of distinction/ duality guides us that we are incomplete if we are seen separate from the body of Rashtra. Yashwant Rao Kelkar has also observed that we are incomplete (Apurna) and that the Rashtra-Bhaav makes us complete. (Apurnanta se Purnanta ki Yatra)

Dr. Hedgewar Ji has similarly observed in 1935 in Pune that Rashtra for us is not a geographical piece of land. It is not some hollow space which is vacant. The Rashtra for us is not united by markers like religion, language or race. For us, 'Rashtra' consists of Sanskrit, Dharma, History, and traditions. For us, if someone gives us God, by breaking India, we will not agree to it.

Indian social anthropologist *Ramchandra Thupkary* saying "human brain is divided into two halves: the right side is occupied to deal with diversity and left side with uniformity. The typical Indian has a 'right side brain' and the typical European a

[1] Ibid

'left side brain'...Cultures which have a strong right side brain are good at dealing with complex thoughts and tend towards a democratic and decentralized society. Their minds are original but disorganized. People who have a strong left side brain are more disciplined but tend to develop autocratic and centralized societies. They are better at organization but lack imagination. Polytheistic Indians are right side, monotheistic Europeans are left side, and the software of human development comes from India. The hardware comes from the west...After independence; India has gone badly astray because it was run by people with overdeveloped left side brains who had been educated in western ways..."[1]

Technically even Gandhi and Patel had got Western education, but they remained unimpressed by the superiority of Western ideas and the possibility of their complete application in India. Infact, Gandhi's work *Hind Swaraj* is regarded as the product of his disenchantment from Modern lifestyle, which he experienced in England and South Africa. Studying the Gandhi's criticism of modernity, Rodolph and Rodolph have interpretated Gandhi as a Post-modernist. Unlike Nehru, Gandhi knew that the problems of India are specific to the context of India and would require unique solutions. This is no wonder why the Nehruvian understanding of Nationalism as Stateism fails to capture the element of Rashtra-bhaav, and the major opposition to our view of Rashtrabhaav comes from the Nehruvian group and their Leftist friends.

The preamble to the Constitution of India also resolved to ensure the "**FRATERNITY** assuring the dignity of the individual and the unity and integrity of the Nation." The expression encourages us to promote the feeling of brotherhood and collectiveness while recognizing the inherent diversity of individual. **Fraternity, here, is a form of expression of Rashtra-Bhaav which allows us to be dissimilar and yet remain the same.**

In the recent Supreme Court Judgment of ***Subramaniyam Swami v. Union of India*** (2016), the Supreme Court has decided that the feeling of fraternity must be promoted among the Indians. They have recognized it as one of the most fundamental feeling which India must inculcate as a plural society for a peaceful co-existence and development.

Babasaheb has also stressed on the need of generation of fraternity for development of India and realization of the goals of shared future. He stressed

[1] Edward Luce is a renowned British journalist and Bio-grapher.
Edward Luce, In spite of Gods; page 145-146

that the expressions like Liberty and equality will be devoid of value, if the element of fraternity is missing in our society. Babasaheb stresses that the public conscience which gets agitated at every wrong, no matter who is the sufferer could be generated only by the collective public conscience. This feeling of fraternity or collective conscience which has the element of collective belonging could be embedded in and complemented by the idea of shared nationhood or what he calls the 'sentiment of nationality'. For him the corporate sentiment of oneness will not be forged by the presence of some common enemy, but was nurtured by caring for the well-being of the people in a common geographical and cultural sphere. This will foster social cohesion, mutual trust, a willingness to make sacrifice for others. His idea of nation varied from the European notion of nationalism, and in fact considering it as a real bonding among the people tied together by ties of mutual concern, commitment and respect. His conception of nation is closely associated with the vernacular understanding of Rashtra.

It is high time that we overcome our 'collective ignorance' regarding the difference between राष्ट्र and 'NATION'. Simultaneously we should work on linguistics and history to demolish the non- indigenous imprints on our mind.

*****

Bibilography:

Benedict Anderson, Imagined Communities: Reflections on origin and spread of Nationalism, Verso publishing house, (1983)

Eric Hobsbawm, Nations and Nationalism since 1780: Programme, Myth and Reality, Cambridge University Press, (1990)

Hans Kohn, Nationalism: Its meaning and history, MacMillan Publishing Company, New York (1955)

Anthony D.Smith, Nationalism and Modernism, Routledge Publications,(1998)

David Held, Political Theory and Modern State (1989)

Hans Kohn, The Idea of Nationalism (1944)

Hamza Alawi, State in Post-colonial Societies: Pakistan and Bangladesh (1972)

Andreas Staab, The European Union Explained: Institutions, Actors and Global Impact, Indiana University Press (2013)

Ernest Gellner, Nations and Nationalism, Cornell University press, 1983

Edward Said, Orientalism, Pantheon Books, 1978

Rabindranath Tagore, Nationalism, 1917

Sri Aurobindo, Foundations of Indian Culture, 1940

INDIAN EDUCATION IS MACAULAY'S DERIVATIVE

Maria Wirth[1]

I
PROUD TO BE 'EDUCATED'?

Indians have brains. This news has spread by now. I read about an Indian girl in a school in U.S. who complained that her American peers expected her to excel simply because she was Indian. There are statistics which show that NRIs in U.S. are doing exceptionally well, that their percentage in organizations like NASA or Microsoft is far above average.

I used to think that the Indian education system has something to do with it. But recently I realized that Indians are brainy and successful in spite of their education. This may be too much of a generalization. There are hopefully many institutes with good curricula and excellent faculty, especially in science and technology. Yet one thing is certain: general education in India can do with improvement, and urgently so.

A few years ago I looked for the first time into a textbook of a 5 year old. He was learning rhymes and I was shocked: "London Bridge is falling down, falling down, my fair Lady…" he learnt. Meanwhile he is eight and he still knows the rhyme. Good memory. But couldn't it have been used for something better? Recently he learnt Roman numbers: X, C, L etc. I told him that he won't need them, as Indians have came up with

[1] Maria Wirth, a German, came to India on a stopover on her way to Australia after finishing her psychology studies at Hamburg University. Under the influence of Sri Anandamayi Ma and Devaraha Baba, two renowned saints whom she met in 1980, she realised that India 's Vedic wisdom is a great treasure, continued to live in India and never went to Australia. She dived into India 's spiritual tradition, sharing her insights with German readers through numerous articles and two books. For the last 15 years, she also writes in English mainly on her blog https://mariawirthblog.wordpress.com/, from where the present article has been assorted.

the far superior decimal system which is in use all over the world. He stunned me with his reply: "But it is GK (general knowledge), no?"

It struck me that GK is very much dictated by the west. What about knowing what 'pranayama' means? My laptop makes a red line underneath. It never heard of this word. My sister once told me that the one million Euro question in the German version of 'Kaun banega crorepati?' was: 'Who accompanied Edmund Hillary to Mount Everest?' The organizers were probably certain that Germans had never heard that name. Yet was it not Sherpa Tenzing Norgay who made it possible for Hillary to reach the top and take all the laurels?

A few days ago I looked into the notes of a Bachelor of Science student. She was preparing for a psychology test. It was again a shock: she had copied 7 ½ pages on Sigmund Freud's psychoanalytical theory of personality development. She learnt about oral, anal, phallic, genital stages, about Oedipus complex, etc. Nobody told her that this theory is outdated. Simply because Sigmund Freud, for whatever reason, is a famous name, the students have to lap it all up. Of course there were more theories for her to learn: by Carl Jung (who by the way fell out with Freud and visited India in 1938), Skinner, Maslow, etc. Not a single Indian was mentioned in her notes. Yet German students hear of the Bhagavad-Gita. Incidentally I myself was asked to write a chapter on the Yoga of the Bhagavad-Gita for a university reader meant for German psychology students which was published in 1989. In the 1970s at the height of the India wave in the west, a new stream was added to the existing therapies in western psychology. It was called 'Transpersonal Psychotherapy' and as the name suggests, postulates the reality of something that transcends the person. Ever heard of Atman? Some prominent representatives of this line like Stanislaw and Christina Groff had Indian gurus. I doubt, however, that the Indian contribution is getting acknowledged in their work.

It is amazing that Indians still don't have the confidence to stand by their own wisdom. Are they not aware that Indian ancient scriptures are an amazing source of knowledge about the human being? Writings of a Swami Vivekananda or a Sri Aurobindo easily outshine western notions on personality. Are not at least some of those who design the curricula aware of it? It seems that only when it is very obvious that the west appreciates something Indian, will Indians also appreciate.

For example now, since Hollywood is interested in making a film on Ramayana and Indian mythology is becoming a hit in the West and of course exploited economically, Indian children (and adults), too, hear more about their mythology. Or now, since yoga

is taught even in educational institutions in the west, there is at least a chance that yoga will be taught in Indian schools, as well.

It occasionally happened at some get together here in Dehradun that somebody quoted Shakespeare and expected me to know the passage. It is considered a sign of being highly educated. I have no knowledge of English literature. Our focus in school was on German literature. Incidentally, famous German writers like Hesse, Heine, Herder, Rilke, Jean Paul, Novalis, Schopenhauer and others read Indian scriptures and were influenced by them. Most of them had never been to India, but they appreciated the spiritual value of the Upanishads and the Bhagavad-Gita. Some clearly expressed that wider knowledge of Indian wisdom would make the west aware of the 'colossal one-sidedness' in which 'our whole religious and philosophical thought is stuck' (Prof. Paul Deussen in 1920).

Back to being educated. It is common knowledge that the British colonial masters intended to subdue India with the help of their education system and it worked. What prevents India from radically changing this system for the better 60 years after independence? Since Indians no doubt are brainy, they could easily come up with a better idea how to use those 12 or more years of education and not just copy the so called 'first world'. Why are today's Indians still so proud of having been educated at a convent? Why should Indians learn about Freud? Because Freud is general knowledge and Indian wisdom is not? Because it may come in some TV quiz? Because at some dinner party one may be considered highly educated? It certainly is odd.

A lot is done regarding child labour, laws are put in place, etc., yet school kids don't get any protection from being overworked? Their working day often starts at 6 a.m. if not earlier with tuition even in winter and they have to cram their brains with often unnecessary stuff for many hours a day and their parents don't even realize. This non stop slogging under pressure to pass the exams, takes its toll.

Once I was in an auto in Delhi. At a red light, it came to a halt right next to a Maruti van full of school kids. I bent and looked at them from my auto till the green signal came. Not one of them discovered me. They all silently stared straight ahead, maybe lost in thoughts, or maybe simply dead tired.

That's when I felt that street kids are more alive, present in the moment and aware. They generally don't lack in self esteem and know more about psychology and life skills than most B.Sc. students. Yet in all likelihood "a BA" or "a B.Sc." or "a PhD" will feel infinitely superior to them. Does anyone know why?

II
ENGLISH MEDIUM EDUCATION WEAKENS INDIA. THE PISA TEST PROVED IT

It is no secret why the British replaced the indigenous education system and Sanskrit gurukuls with English education. They wanted to create a class of Indians who think like the British and in this way weaken India. Sanskrit culture und Vedic knowledge were the backbone of Indians. This backbone had to be broken. English medium education did it to a great extent. Indians were cut off from their precious tradition, and they had to study in a completely foreign language, as if this was an easy thing to do. Somehow, the children of the tiny elite managed. They were motivated to make it into colonial government jobs and English was the only gateway. Naturally, these westernised students and their offspring, who had no roots anymore in their own culture, influenced the future of independent India in a big way.

So it is no surprise that even after Independence, English medium in higher education and in the 'better schools' which were often run by missionaries continued with the argument that English is the necessary link-language between the states. It was in the interest of this elite and the Churches to continue with the status quo, where jobs at the top require fluency in English, as for this tiny minority, English is their mother tongue. They are not fluent in the language of the region where they were born. And they are still successful in convincing the policy makers that English medium is the way to go in education – to the detriment of India.

There is no doubt that Indian children are intelligent – in all likelihood more intelligent than their western counterparts. An NRI based in Seattle and Gurugram, Sankrant Sanu, tested the intelligence of Indian and American children via a non-verbal IQ test. Village children (from Haryana) came out on top. They outperformed their peers in Delhi and in the US. In one village over 30 per cent scored over 90th percentile which means that out of 100 Indian children over 30 were as intelligent as the topmost 10 out of 100 American children. It was an extraordinary result.

Yet in 2009, India got a severe shock, which should have woken her up, but this wake-up call was not heeded. For the first time, India took part in the Programme for International Student Assessment (PISA), conducted by the Organisation for Economic Co-operation and Development Secretariat (OECD). Around half a million 15- year old students from 74 countries were tested for two hours in maths, science and reading

skills. Himachal Pradesh and Tamil Nadu students were chosen to take part, as these states were doing well in education.

When the results were out, there was celebration in Asia. Asian countries were leading the list and had much higher ranks than Europe or USA – with one shocking exception: India came on rank 73 – second last, beating only Kyrgyzstan. The best Himachal kids were 100 points lower than their average peers in Singapore and 250 points lower than the top performers. It was a huge embarrassment. Indian experts explained that the students faced 'language difficulty'. It was true. The problem was the language. The tests were held in the mother tongue of the respective countries: German in Germany, Japanese in Japan, but English in India. Yet there was no serious introspection.

Ever since, India did not take part in the 3-yearly PISA test, but in 2021 Kendra Vidyalayas are expected to take part – again students in English medium. There is probably the hope that those students will do better, as their parents, being in government service, are likely to speak good English. Yet is this representative for India? Is it not cheating India?

Being German, I know that fluency in English doesn't come easy. But when I sometimes advocated that Indians should study in their mother tongue including in higher education, there was always opposition from Indians fluent in English. They don't seem to get the difference between studying in English medium and studying English as a subject. Nobody advocates not learning English. But having to read textbooks, question papers, and write essays in an alien language is too much for students and the PISA study proved the obvious.

If we need more proof, we only need to look to certain European countries today to realise that students don't do well if they don't understand the language. Sweden and Germany had a significant drop in their ranking in the latest PISA test in 2015, and I dare to predict that Germany will drop even further in 2018. The reason is simple: even after a year of intensive German language classes for migrant children, these children don't speak German well enough to be good in their studies.

These migrant children at least attend German lessons for one year before they can join the regular classes. In India, children from homes where parents don't speak any English are put into English medium schools with no preparation whatsoever. This is a disaster. I really wonder how this can be allowed. It should be obvious that it is a huge blunder. Yet it is not only allowed but was even encouraged: Under the previous

government, millions of students changed from government schools to third-rate, private 'English' schools, which popped up everywhere. This craze for 'English schools' may have been deliberately fanned by interests who don't want a strong India, for example the Church. Parents, who do not know English, were made to believe that "English school" is the best for their children.

It is not the best but the worst. Where in the world would children be sent to a school where the teachers speak in a foreign language? Just imagine the plight of the kids. They learn to spell and can read after a while, but they don't know the meaning of what they read. They will be left in a limbo: they are neither good in English, nor in their mother tongue. And they will dread going to schools. Forget about a happy childhood where it is fun to learn. It is a perfect recipe for teaching in vain, because no learning happens.

Any surprise that even in 5th standard, kids cannot form simple English sentences and just stare at their textbooks when their parents tell them 'to study'. They may not miss much if they don't understand their social study or history books, because the content is often not worth learning. But the situation is serious when it gets to maths and science. Kids cannot solve even the simplest of tasks in maths like: "put the numbers in ascending order". The textbook authors cannot imagine that the instruction is not clear, but if you don't know English: put, number, order, ascending… all this is a mystery. Naturally the children lose self-confidence.

Yet India is huge and the majority of people managed to keep their culture and India's strength alive and their innate intelligence and competence intact. Their children went to schools where mother tongue was the medium of instruction. They understood what they read and could freely express themselves.

It would be interesting to find out, how many ISRO scientists, or generally students in the science and maths stream had studied till 12th class in their mother tongue. It may well be the majority. It would also be interesting to find out how students from Himachal Pradesh and Tamil Nadu, who attend vernacular schools, fare in the PISA test. They surely would not be at the bottom of the ranking list.

Indians have brains and the world knows it. But in English medium their great potential is suppressed and not tapped. Except for the tiny minority who speak English at home, the great majority of Indian students are at a huge disadvantage compared to students in other countries. It is a huge disadvantage also for India.

Isn't it about time to phase out this colonial hangover of English medium

schools? The argument that English is needed as link language is no argument in favour of English MEDIUM. Why can't Indian students learn English like students all over the world do – as a subject? Sanskrit, too, needs to be revived in a big way to open up the treasure that is hidden in the Vedic texts. The value of Sanskrit is recognised all over the world. It is the most perfect language, and especially suitable in fields like IT. It has strength, dignity, beauty. It develops the brain and improves the character. Indians have a great advantage here, as their regional languages are connected with Sanskrit and it is much easier for them to learn it. It is truly incomprehensible why Sanskrit was sidelined – of all places in India.

Even Sanskrit medium education would be much easier than English medium and far more beneficial for an all-round development of the students. It would be worthwhile to find out whether in the long run, Sanskrit can be introduced as the medium in education. It is not yet too late to give Sanskrit another chance.

Imagine if India had IITs and IIMs in Hindi, Tamil, Malayalam, Marathi… The technical terms could be sourced from Sanskrit and would be the same all over India. Students would have an advantage in many fields, for example in artificial intelligence, which is an important issue today. They would be free from the burden of English textbooks, and could freely express themselves. There is a lot of talk about "the right to freedom of expression". Yet the greatest curb on freedom of expression is ignored. It happens in English medium education all over India. Students cannot say what they want to say, because they lack the vocabulary. Those, who have a natural talent for languages, can become translators, and translation apps, too, can be used to facilitate communication.

Committees have been instituted, who look into improving the education, yet they deal mostly with the content. But what is the use of good content when the students don't understand it? The most important issue is the language issue. This needs to be sorted out first. Suggestions exist, for example in "The *English Medium* Myth", which are worth considering. The result of the PISA test, too, must be analysed honestly and consequences be drawn.

Before Muslim invaders destroyed the centers of learning, India was known as a knowledge hub. She was the Vishwaguru. To reach this status again, common sense demands that students need to understand what they are taught. It means they need to study in their mother tongue. Further, Sanskrit should be taught right from the start as it optimally develops the child's potential.

Let there also be some international schools and courses at universities in English medium for expats or those who want to go abroad, like in European countries.

If even tiny Denmark and Israel manage to teach higher education in their mother tongue, surely the big Indian states will be capable to do this and translate the existing syllabus or even better, source new material including for higher studies. Only then justice is done to the great potential of Indian youth. Only then India will truly shine.

III
DECOLONISING INDIA'S EDUCATION

A national newspaper carried an article in July 2014 that bemoaned (rightly so) the disparity in education between the haves and the have-nots, between the 20 per cent who study in English medium private schools and the 80 per cent who study in vernacular government schools. The author proposed an outlandish solution to bridge the disparity: 'Introduce English in government schools right from nursery to bring the education standards on par for all children.'

I was amazed at this proposal. How can an Indian want more colonisation instead of getting rid of the remnants? Why would Indians want to hold on to that colonial language baggage that was burdened on them in 1835 on suggestion of Thomas Macauley? Don't they know that the intention was to make the 'natives' lose pride in their clearly superior culture and make them mental slaves of the British without them actually realising that they were made into slaves? Why would a free India want to continue with English as the preferred language at the expense of Indian languages and at the expense of Sanskrit which is the basis of those languages and is praised the world over? In which country the upper classes do not to speak in their mother tongue?

Well, amazing as it is, many of the Indian elite actually want an 'English India'. It feels natural to them. They feel more at home in English than in their mother tongue because of their education in English medium. And so far, they were even allowed to feel superior to the masses, who don't speak this 'world language'. Without being spelt out, the fact is that those fluent in English with the right accent form the topmost class in Indian society. This fact does not prevent many of them from castigating "the Brahmins" as those who unfairly 'oppress' others.

However, at present a churning takes place that shakes this privileged position. There is certain resurgence of an Indian identity, and tradition and language are major

aspects of it. The Prime Minister taking his oath of office in Hindi and several MPs in Sanskrit, would have put the English speaking elite ill at ease. Maybe the attack on Smirti Irani as HRD minister was not so much because of her missing academic credential, but because of her fluency in Hindi. Those who are fluent only in English may fear that she does not share their conviction that English medium is a must for higher education.

The English speaking class naturally have an interest to continue with the status quo, where jobs at the top level require fluency in English whether it is in the judiciary, the defence forces, in academia, science or administration. It is in their interest and in the interest of their children.

As they lack good arguments in favour of English medium education, they use different methods. One is ridiculing those who speak bad English. I saw comments who read "Before posting first learn proper English". If you tell this to a German, he may just ask back "Why should I?" But if you tell this to a Frenchman, beware! Yet Indians keep quiet and may even take it to heart.

Another method is to obfuscate the language issue.

"India has a huge advantage because her population speaks English, they claim. But two points are not made clear:

First point: only a small percentage of Indians actually speak English – only about 15 per cent know English and only a few lakh (0,05 per cent) speak it fluently as primary language.

Second point: it is not easy to learn a foreign language which one doesn't hear spoken in one's daily life, but only for a few hours in school. It is of course easy if you hear it spoken from childhood at home.

I could directly observe this: In 2006, in the span of a few months, six babies were born in my surrounding – three of them to parents who speak English at home and three to parents who don't know English. All six of them are now in English medium schools. Meanwhile the disparity is huge. The children of the former are at ease in English and 'good' in school, the others struggle, in spite of being sent to tuition which is a burden for their parents. The disparity is not in their level of intelligence. All of them are bright and full of zest. In fact, the children of the parents who don't speak English and have little income seem to have grown up faster. They are highly observant, don't throw tantrums when they don't get what they want and are better behaved towards elders.

Nobody says that children should not learn English. But why demand from teenagers fluency to write essays, understand thick textbooks and the question papers in their exams? They need to learn the basics, like students in other countries do. Why burden them so young with tomes in an alien language? This happens in no developed country, only in a few former colonies, including India.

English medium in education has an advantage only for those few who want to study abroad, and is easy only for those who hear English at home. They are at present greatly privileged, but are a miniscule minority.

During the years of UPA rule, the craze for English medium schools accelerated, and it may have been intentional. Government schools kept being in the news for poor results, and forthwith even those who did not know any English started sending their children to the mushrooming small private English medium schools. It became a business opportunity for some entrepreneurs and a prestige issue for parents who hardly could afford the school fee.

Friends, who had established primary schools in over 20 villages in the Himalayan foothills, closed them down some years ago. In tune with the times, parents had pressured them to change them to English medium. My friends took a principled stand and did not comply. The children landed up in dubious English medium schools.

No authority counselled the parents that it was a big blunder, as their children will be neither good in English nor in their mother tongue. They are unlikely to break through the glass ceiling that separates them from the haves. In fact, they would be much better off if they went to a Gurukul like Baba Ramdev did, obtain knowledge that truly matters, develop body, mind and spirit and discover the purpose of their lives.

Baba Ramdev made me realise how odd it is to continue with English in India. He himself had escaped English education and the slave mentality that often comes with it and certainly is not the worse for it. There are few people who are as knowledgeable, energetic and successful in transforming their vision into reality, as he is. He is connected to his roots via Sanskrit, and can see the damage that the British have inflicted on India.

During his talks across the country he kept thundering: “French study in French, Germans in German, Japanese in Japanese. Why do Indians study in English?”

I realised only then how shockingly disadvantaged Indian children are. I wondered what would have happened, if my parents had sent me to a (luckily non-existing) English medium school. It would surely have been a disaster, even though

English is not as different from German as it is from Indian languages.

It happens occasionally that children from a non-English background get into prestigious higher education. The super 30 of Bihar who crack the IIT admission test are an example. But they could have honed their outstanding talent for maths even better, if they had not first to overcome this huge language hurdle.

An NRI from US tested the intelligence of Indian and American children via sign based IQ tests. Village children in India outperformed their city counterparts in India and in the US. In one village over 30 per cent scored over 90th percentile! An extraordinary result! Yet once these children aim at higher education, they lose confidence, all because they are not good in English.

A government school teacher told me that some of her students were drop outs from English medium schools. They were now flowering in Hindi medium. "Here, they can be natural, have fun. Whereas in English medium they were always timid" she said. "Worst off", she added "are poor kids that are admitted to expensive schools under the RTE Act. They clearly wither away as they feel inferior."

The push for more English medium schools in recent years and the proposal to introduce it even in government schools is difficult to understand. Those planning the education policies would know that English medium for children from non-English background is too tough. The disparity can't be removed in this way. It can be removed by giving them books and question papers in their mother tongue also for higher studies.

The parents from poorer sections think that they do the best for their children, as they learn now the same as the children of 'big people'. They don't realise how it stifles their development. They also don't realise how much crap is written in those fancy textbooks. (I won't go into details, as I wrote two articles on it earlier, links below).

Apart from making the children timid, being forced to speak English in school dilutes their Indian identity. Could this have actually been the objective – to make the children lose this identity at a time when many realise that India stands tall among the nations? This assumption is hopefully out of place. Yet watching discussions on English channels, one gets the impression that many panellists would wish for a fast westernisation of India. Those panellists however clearly do not represent the masses.

Can India, 70 years after independence, finally make a gradual transition to teaching all, including higher, education in the respective mother tongue and teach Sanskrit and English as obligatory languages and others optional? Europe with over 20

states and over 20 languages is in a similar position like India. There, each child is taught in his mother tongues including at university level. India could adopt this model. Some plans have already been drawn up, for example in an interesting slide show by Sankrant Sanu under: http://www.bhashaneeti.org/. He also wrote "the English Medium Myth" which is available in English and HIndi

India is more cohesive than the European Union. The underlying unity in her diversity is her common heritage. And this heritage is India's strength. As much as the English speaking left liberals may deny it, Sanskrit, Ramayana, Mahabharata and Vedic philosophy unite India even today. It would be foolish to further dilute this glue by promoting an "English India", while the west discovers the value of Sanskrit and Indian philosophy and teaches it in their schools and universities.

IV
EDUCATION IN INDIA – HOW TO IMPROVE IT

"I read your article on education in India", a friend told me, "but there should be a follow up. It should be discussed in public and reach the officials concerned. Education in Indian schools has to change," he stressed. He is, so to speak, an aggrieved party. Together with his wife he started coaching the children of their servant. Other kids were added and now they have some 10 children and a teacher coming every afternoon for tuition. "Why should they learn who invented the telephone?" my friend asked. The children themselves will probably defend it, wanting to get as much 'general knowledge' as possible. They keep cramming their brains with facts I have never heard of and probably will never need, including old cricket and movie stars.

Before wondering what could be done to improve education in India, of course it would be good to define what is meant by education. Being able to fluently write and read one's mother tongue and English (or maybe Chinese?) would be a worthwhile goal. Knowing how to do calculations and solve mathematical questions is also useful. What else? Of course there can be added much more since 12 years is a long time. It could be put forward in an interesting manner and not with the sole, frustrating goal to reproduce it word by word at the next exam.

When I think of my own education up to college, I hardly remember anything beyond the basics. Whatever was taught in school I automatically tagged as 'boring'. I memorized it for the exam and then let go of it. Now when an 8 year old neighbour boy

shows me his books, it looks all new to me: five types of forests and soils and…oh, his grammar book! I had to call once an English friend for clarification who herself had to look up the dictionary. I am sure the boy will also forget about it soon.

Yet the urge to know is deep rooted and was so in me, too. After my high school, I was dismayed that I knew so little, in spite of my good grades. I became a voracious reader, wanted to know everything. At that time I did 3 years training with Lufthansa and the world was open to me. And I wanted to know the political and economical situation in every country or at least in those which I visited, and I visited some 40 of them. I made files for South America, Africa, Asia, etc. and whenever I found an article in one of the major weeklies in Germany regarding such counties, I read it and filed it. After some time I only filed it, resolving to read it later which, of course, never happened. Slowly it dawned on me that I simply can't know everything.

One morning I was sitting in a restaurant for breakfast, when suddenly a picture came to my mind: I 'saw' all this knowledge I wanted to acquire like being lined up on the circumference of a huge circle with me in the centre. It would never be possible to learn all this out there. And then I wrote a sentence into my diary that surprised me: "I believe there is a point inside me, and when I reach that, I know everything."

This certainly was a strange sentence for a 20 year old German. And what a surprise when I came to India many years later! Here I read in the ancient scriptures that the goal is 'to know THAT by which everything is known.' Well, here I felt at home.

Now, if it is really possible to know That by which everything is known, then of course it should have priority in education. The focus should definitely be on this one thing. Yet there is a difficulty now, because it becomes very subtle and is not anymore only in the realm of reason. It can't be put into words in an article. There has to be openness for spirituality. 'That' is namely our core; it is the intelligence, power and life in everyone. It is not an object to be known. It is the invisible essence, consciousness without content. And if That can occasionally get an opening through the maze of constant thinking, inspiration and worthwhile knowledge happen.

The Rishis claimed that this intelligence can be approached by being still, by occasionally not thinking, by being fully present in the moment, by devotion. Putting attention on 'That' has tradition in India since ages and is called dhyan, or meditation in the west. And it may not be far fetched to assume that this was the main reason for the amazing knowledge the ancient Indians had.

If Indian educationists are not de-cluttering the textbooks and introducing at least a few minutes of dhyan and other means which help to be fully present and not to be constantly lost in thoughts, who will? Maybe the west will actually try it out as they are in a real educational crisis. Does India again want to wait till the west appropriates her knowledge and makes it into an "international phenomenon" like yoga?

For example, Hermann Graf von Keyserling, a German, who traveled through India already in 1911, wrote: "I can say from own experience that this seemingly useless and often ridiculed 'being still' (meditation) is of great importance… all great personalities are masters of their mind and not slaves of their automatism… a few minutes every morning of being still have more effect in increasing concentration than the strictest schooling.

I read that the great Indian mathematician Srinivasa Ramanujan felt that Namagiri Devi, a goddess he worshipped, helped him solving mathematical riddles. Even on his deathbed he dreamt of a mathematical formula that did not make much sense at that time but was validated some hundred years later, in 2012. Einstein also had his path breaking insights in quiet moments. Another scientist dreamt at night the solution to his problem in chemistry. It all points to the fact that great intelligence is within us, which means, it is very close. It has to be so, as we, as individuals, are not in a position to make our bodies and minds function. It is done by some greater intelligence. This intelligence can be tapped into. How this tapping is best done, has to be enquired into and experimented on. In all likelihood it is not done by more thinking, but by occasionally stopping to think. And maybe the motivation also has to be taken into account. It may not work if the motive is to outshine others. Maybe also certain qualities like humility and genuine gratefulness to that inner intelligence are required. It would be worthwhile to find out, wouldn't it?

V
WILL INDIAN PSYCHOLOGY FINALLY BE RE-DISCOVERED?

This article is about a conference on Indian psychology that took place in 2002 in Pondicherry. I poste it here again, as unfortunately not much has changed since then. The hopes at that time that "after ten years" there will be a big change have not come true. Meanwhile, "consciousness studies" have taken off in the west, where India should have been the natural leader. Maybe now, finally, there is a chance for Indian psychology

to be re-discovered in India as well.

Indian psychology has been invisible as a subject in Indian academia. But exist it does, preserved in ancient texts and scriptures. A conference of professors and students of psychology decided to unearth and verify this "sophisticated, rich and practical" body of India's wisdom that concerns the human being and the enormous potential it encompasses.

When two German magazines Yoga Aktuell and Advaita Journal, expressed interest in a report on a conference on Indian psychology, I was convinced of the demand for Indian psychology in the West. Off I went to Pondicherry, to attend the conference on 'Yoga and Indian approaches to Psychology' held a month ago.

Pondicherry was home to Sri Aurobindo and the Mother who left behind a huge body of work on yoga and psychology. Sri Aurobindo had stated: "Yoga is nothing but practical psychology." His vision of an impending change in the consciousness of humankind prompted the Indian Academy of Applied Psychology to ask Dr Matthijs Cornelissen from the Netherlands to organise this conference. The doctor has lived in the Ashram for almost 30 years and values the Indian tradition. During his lectures on Sri Aurobindo's vision of psychology in America and Europe, he noticed that there is a big demand for teachers of Indian psychology in the West.

The many conference sponsors included the Indian Council of Philosophical Research and, the Infinity Foundation of USA. It drew 160 delegates from different universities and institutes from India and abroad, and over 80 papers were presented.

In his keynote address, Prof. Ramakrishna Rao, President of the Institute of Human Science in Vishakapatnam and former Vice Chancellor of Andhra University said: "Isn't it an irony that there is no Indian psychology in any of our great universities?" He pointed out that out of the 1,000 colleges in Andhra Pradesh only 20 teach psychology. He asked why psychology was in such a pitiful state and answered the question himself "because psychology as it is taught now appears irrelevant in the Indian condition".

It slowly dawned on me that Indian psychology is hardly taught in India, at least not at her colleges and universities. It amazed me. Psychology in India is completely ignoring the Indian tradition in spite of the great treasures hidden in its ancient scriptures. The textbooks here are written by western authors and many teachers are trained abroad. Prof. Girishwar Misra from Delhi University put it bluntly: "If you mention Freud, nobody asks questions. If you mention samadhi, everyone does."

Prof Anand Paranjpe, who retired from Simon Frazer University in Vancouver,

said he smuggled some Indian thought into his regular courses. These, he said, were tolerated and even appreciated in the west, yet not in India. Thirty years ago, when he suggested including Indian thought into the curriculum, nobody supported his idea.

For him, the conference in Pondicherry was like a dream come true. Finally, professors, lecturers and students from all over India appreciate the profundity of Indian tradition and realise that it is possible to develop a scientific psychology based on this tradition, which goes far beyond western psychology. About time, because the West has already discovered the immense potential of Indian traditions and techniques like yoga. Yoga and pranayama which concern the well-being and growth of human beings, are no doubt aspects of psychology. Westerners have also taken concepts from India's ancient scriptures, and used them to go beyond behavioural and humanistic psychology to what is termed 'transpersonal' psychology and 'transpersonal' psychotherapy. This new movement began in the 1970s and even made inroads into the curricula of western universities.

The Indian tradition, according to Prof Anand Prakash from Delhi University, is a powerful, robust and encompassing system. Its emphasis on consciousness as the primary reality is a sound foundation. It offers invaluable tools for psychotherapy, education, management and social work. Prof Rao stressed that it has global relevance and can reduce the glaring and unhealthy asymmetry between outer and inner science.

Western psychology is still groping in the dark over the most important questions of humanity and prefers not to pose these questions. There is a huge body of psychological research, but most of it is either irrelevant or obvious. This is because western psychology tries hard to be an objective 'science' and relies mainly on observation that lies outside and not on experience that is inside, thus missing what is truly relevant for a human being. It chooses to ignore consciousness or rather it has no idea that consciousness is the basis and beyond the mind.

Some delegates had delved deep into the concepts of science, enabling them to counter those who demand 'scientific' research based on observation. They concluded that there is no such thing as 'absolute truth' in science. All findings that the mind and intellect can arrive at are relative, claims modern physics. Indian tradition claimed long ago that mind and intellect cannot know the truth, yet truth can be realised as one's own being because it is one's being.

Several students expressed their disappointment with the present curriculum of psychology. They chose psychology as their subject of study, because they wanted to

find answers to the basic questions of humanity and these questions just did not figure in the curriculum. The disappointment was probably most acute for those who practise their tradition, because they know for sure that Indian tradition is valid. Dr Suneet Verma, a lecturer in Delhi University, for example, wanted to write his first thesis on 'personal growth in the Indian tradition'. His professor told him that 'personal growth' is okay, but he should leave out 'Indian tradition'.

This was in the 1980s, when the convergence between ancient Indian wisdom and modern science was the subject of conferences all over the world. One of those conferences organised by the International Transpersonal Association took place in Bombay in 1982, where a new paradigm that assumes the whole universe is an interconnected whole that 'most probably is conscious' (as Fritjof Capra put it) was adopted. The Indian image of Nataraj was used to illustrate this new paradigm. The Indian rishis of old knew that the world is maya, that it is not what it seems to be, that it is an appearance of the one true consciousness. Modern science recently confirmed their vision. That should be reason enough for psychologists to study and prove their vision of the human being and its potential for liberation.

Though yoga and Indian psychology were the subject of the conference, most presentations started by quoting western scholars. "Do we have to deconstruct western psychology first to construct Indian psychology?" a student questioned. "We cannot ignore history," replied the lecturer. "In that case let us go back to the Vedas", the student countered and certainly had a point.

Now what actually is Indian psychology?

Indian psychology encompasses the vast body of India's wisdom that concerns the human being. Indian philosophy and Indian psychology share a framework and believe the human has enormous potential hidden in its being. Indian psychology also has the 'technology' to raise the consciousness of a human being to a higher level. It is "sophisticated, rich and practical", Prof Rao pointed out, and deals with the most basic human questions, for example: Who or what is a human being? What is the purpose and goal of life? Who is an ideal human being? How can one live a happy and peaceful life? What is the cause of suffering? What is death? Has every person his own 'battery' or is she connected with an all-pervading power? Is there free will? And so on.

The Indian tradition gives profound and intuitive insight into the human condition. It also gives practical methods to find peace, joy and love, which, it claims, are inside everyone. These qualities are aspects of one's true self– of pure consciousness.

In the Indian tradition, a person is not a separate fragment but on a deeper level one with all–a claim that is in tune with the findings of modern physics. To find one's true self, and thereby disidentify from the ego, which one mistook for one's self, is the goal of life and is mukti–liberation. It is a change in consciousness that has vast implication for society as well.

The Indian tradition not only goes beyond but is often diametrically opposed to the view held by mainstream western psychology. For example, it says that one's inner state determines the outer, whereas western psychology believes the outer circumstances determine one's inner state. Indian tradition says that the fulfilment of desires would give short-term happiness, until a new desire springs up. Lasting fulfilment and joy are found by stilling the mind and diving deep within–to pure, thought-free consciousness. Western psychology believes that a human being is his body and mind. It does not even consider the existence of pure consciousness.

There is every possibility that the vision of the Indian tradition is valid and will be confirmed if proper research is done. At present, Indian psychology lies scattered as it were in the ancient scriptures. At the conference, papers mainly discussed the view of the Bhagavad Gita and Patanjali's yoga sutras. However, there is much more. For example, Kashmir Shaivism is a goldmine for psychologists. Buddhist and Sufi texts also give extraordinary insights. It is a challenge to dive deeply into the Indian tradition and come up with relevant and helpful insights for the human being and society. Further, it is necessary to find ways to prove the validity of those insights.

Some students rued the fact that there are no textbooks ready on Indian psychology. However, Dr Cornelissen assured: "A lot is ready. Everyone has to work and find out for himself." Prof Rao warned: "If we do not do it, westerners will do it. And they will do it badly."

Westerners may do it badly, but Indians also may do it badly–if they do not practise what they read and preach. The psychologist has to be a mystic, Kundan Singh, a Ph.D. scholar from San Francisco, postulated. Prof V. George Mathew, director of the Integrative Psychology Institute in Thiruvananthapuram, suggested an aptitude test for psychology students, because they require a high degree of sattva. Moreover, he suggested an evaluation of their personal growth instead of exams.

If a psychologist talks about sthithaprajna as an ideal, he needs to have some idea of what equanimity under all circumstances means. If he stresses the great power of pure consciousness, he needs to be convinced of it and be able to tap it. "Psychology

is not a theory, or an intellectual gimmick. It is a verifiable truth–verifiable in oneself," stressed Kittu Reddy, who grew up in the Aurobindo Ashram and worked as a psychologist with the army. "It is based on fundamental laws. Yet these laws have to be grasped at a deeper level than merely by intellectual understanding. One has to follow a certain set of practices which will help intuition and self grow strong and one will be truly self-ruled," he said.

The fact that several delegates, among the younger generation as well, had an inner experience of the Indian tradition, gives rise to hope. However, to assume that every psychologist will be a mystic in near future would be naive. The delegates were aware that given the politics in academia, it would not be easy to introduce Indian psychology into the universities' curricula. The ego still rules where ideally the Indian psychologist should not be ruled by his ego.

Change may be slow, but it certainly is approaching. "In ten years, when Indian psychology is taught in the universities, the number of psychology students will skyrocket," Dr Cornelissen predicted.

A 'Pondicherry Declaration' was passed and a committee was formed with Prof Rao, Prof Janak Pandey, head of the department of psychology of Allahabad University, Dr Cornelissen and Prof Misra on the board. It was high time Indian psychology was given its rightful place in the colleges and universities, to consider, study and verify the views of the Indian tradition.

Suppose psychological research reveals that persons who identify with their ego (the prevalent state of being today) live a life of far inferior quality than persons who truly feel the oneness of all and are not concerned with ego gratification. Suppose the latter feel not just inner peace and joy, but their lives also flow with ease and their needs are met in an astonishing way. Suppose research confirms Krishna's assurance that he really looks after those who surrender to him… Would it not motivate people to forsake the ego and its false promises of happiness and discover the deeper realm of their being that truly liberates?

Perhaps Dr. Cornelissen referred to this when he said: "Indian psychology is a living force for the future."

*****

GANDHIAN THOUGHTS IN THE WORKING OF VILLAGE PANCHAYATS IN INDIA

Dr. Sindhu Thulaseedharan[1]

Introduction

Mahatma Gandhi's concept of "Gram Swaraj" is founded on the ideals of truth and non – violence. That would ultimately pave the way to justice, peace and democracy. The picture of *Village Swaraj* as conceived by Gandhiji was not the resurrection of the old village Panchayats but the fresh formation of independent village units. He believed in a stateless society. According to him " in an ideal state, there is no political power because there is no state". The concept of "Village Swaraj" was nearing to the conception of his ideal of stateless democracy. But Gandhiji presented the concept not as the "withering away of the state" (as communism held), but to be the "scattering of the state". The choice of power was for decentralized political and economic units.

In the view of Mahatmaji , *Village Swaraj* thus became the practical embodiment of non – violence and the working of true democracy. In the words of Gandhiji :

> "True democracy cannot be worked by twenty men sitting at the centre. It has to be worked from below by the people of every village".[2]

Thus *Village Swaraj* embodied village as the decentralized political unit endowed with fullest power with every individual having a direct voice in the government. The people were self – regulated and there was no control by authority. The *Village Swaraj* was not an end in itself, but a means enabling the people to live a better condition of life. It was people centered, grass root level participatory governance evolving like

[1] Assistant Professor, Department of Law, University of Kerala, Kariavattom P.O, Pin – 695 581. e-mail: *sindhu.thulaseedharan@gmail.com*

[2] M.K. Gandhi, *Village Swaraj*, Navajivan Publishing House, Ahamedabad, p. 9, (1962).

oceanic circles from the foundations and rising to the top. It was the reverse of the normal world order of power from top to bottom like a hierarchical pyramid.

The concept of *Village Swaraj* was thus citizen-centric and non-exploiting decentralized simple village economy providing for full employment to each one of its citizens on the basis of voluntary co-operation and achieving self – sufficiency in its basic requirements of food, clothing and other basic amenities of life. Thus, in *Village Swaraj*, the ultimate power will rest with the individuals. One must first attain "Swaraj", if he wants to see the full picture of "Village Swaraj".

Gandhiji's concept of "Swaraj" stood for world government, though the withering away of state was not easy to achieve. In his words:

> I see nothing grand or impossible about over expressing the readiness for universal interdependence rather than independence…. The logical sequel of self sacrifice is that the individual sacrifices himself for the community, the community for the district, the district for the province, the province for the nation and the nation for the world[1].

Basis of Village Swaraj

According to Mahatmaji, to establish *Swaraj* was to serve villages. For him everything else was an idle dream. Just as he brought about a revolution in every other aspect of Indian life, so also he brought about a revolution in the Village life. In his speech delivered in the Asiatic conference in Delhi, He advised the delegates of the different nations to go to the Indian Villages if they wanted to have a glimpse of real India. He had told them to "go to villages that is India, therein lives the soul of India".[2]

Gandhiji's visions of Village Swaraj, in his words were:

> "My idea of *Village Swaraj* is that it is a complete republic, independent of its neighbors for its own vital wants and yet interdependent for many others in which dependence is a necessity. Thus, every village's first concern will be to grow its own food crops and cotton for its cloth. It should have a reserve for its cattle, recreation and playground for adult and children. Then, if there is more land available, it will grow useful money crops, thus excluding *ganja*, tobacco, opium and the like. The village will maintain a village theatre, school and public hall. It will have its own water works ensuring clear water supply. This can be done

[1] *Id.* at p. 6

[2] As quoted by L. Krishnaswami Bharathi, *Constituent Assembly Debates (CAD)*, Vol. VII, p. 526.

through controlled wells or tanks. Education will be compulsory up to the final basic course. As far as possible, every activity will be conducted on the co-operative basis. There will be no castes such as we have today with their graded untouchability. Non-violence with its technique of satyagraha and non co-operation will be the sanction of the village community. There will be a compulsory service of village guards who will be selected by rotation from the register maintained by the village.

The government of the village will be conducted by the *Panchayat* of five persons annually elected by the adult villagers, male and female, possessing minimum prescribed qualifications. These will have all the authority and jurisdiction required. Since there will be no system of punishments in the accepted sense, this *Panchayat* will be the legislature, judiciary and executive combined to operate for its year of office. Any village can become such a republic today without much interference, even from the present government whose sole effective connection with the villages is the extraction of village revenue. I have not examined the question of relations with the neighbouring villages and the centre if any. My purpose is to present an outline of village government. Here there is perfect democracy based upon individual freedom. The individual is the architect of his own government. The law of non-violence rules him and his government.

He and his village are able to defy the might of a world. For the law governing every villager is that he will suffer death in the defence of his and his village's honour"[1].

Thus, Gandhiji was emphatic in saying that he was not at all suggesting that the villages should be independent of all those things. But in certain matters they must have self reliance. The basic idea being "no work no food" and not to expect that being a "Swaraj" Government, Khadi and food will flow from the heavens as "manna". The Gandhian idea of self sufficiency was "Don't expect anything from the government. You have got your hands and feet; 'work; without work you will have no food'. You

[1] *Harijan,* 26-7-42, p. 238.
[2] As quoted by L. Krishnaswamy Bharathi, *CAD*, Vol. VII, p. 526

can produce your own food. But if you don't work, you shall have no food, no cloth[2].

That is the basic idea of self-sufficiency and decentralization and economic democracy. According to Gandhiji if the villages perish, India will perish too. It will be no more India. Her own mission in the world will get lost.

Mahatma Gandhi's views of self-sufficiency of villages were thus two-fold.

1. To optimize the use of scarce resources for development, and in
2. Making the village republics serviceable.

To quote Gandhiji :

> My idea of self-sufficiency is that villages, must be self-sufficient in regard to food, cloth and other basic necessities. But even this can be overdone… Self sufficiency doesn't mean narrowness. To be self sufficient is not to be altogether self-contained. In no circumstances would be able to produce all the things we need. So, though our aim is complete self-sufficiency, we shall have to get from outside the village what we cannot produce in the village, we shall have to produce more of what we can in order thereby to obtain in exchange what we are unable to produce[1].

The village republics, which were established and worked was not a bullock cart village republic. They would use the bullock carts not for simply taking the firewood that is cut in the jungles to the towns and cities and getting some money for hire; those village republics would convert the work of the bullock carts to the work of carrying paddy and other produce which they produced in the villages for their own use as well as for the benefit of the public[2].

Panchayat Raj and the Constitution of India

India has a very ancient history of Panchayats. Even during the Mughal rule villages were considered of primary importance. It was during the British regime that the villages fell into neglect and lost importance. The reason for that was that the British *Raj* in India was based on the support of a handful of people. During the British regime provinces, districts, *tehsils* and such other units, were formed and so were formed the *Talukdaris, Zamindaris and Malguzaries*. The British rule lasted there for so many

[1] *Harijan*, 30-11-35, p. 333.
[2] From the speech of T. Prakasam, *CAD*, Vol. VII, p. 522.
[3] From the speech of Seth Govind Das, *CAD*, Vol. III, p. 524.

years only on account of the support of those few people[3].

In the pre-independence period, the Panchayats were both "Janapadas" as well as "Nyaya-panchayats". They were not entrusted with revenue functions or powers of taxation. The Panchayats were expected to attend to the:

a. Education of boys and girls in the village
b. Its sanitation
c. Its medical needs
d. the upkeep and cleanliness of village wells or ponds
e. and the welfare of the untouchables.

To combine "Village Swaraj" with and to give life to Ambedkar's maxim of 'one man, one unit', the villages were to be self-sufficient and work as self-governing units. Every village like the living cells of the body were to be given full freedom to express itself, but at the same time, with that freedom had to work to maintain and preserve the unity of India. The Constituent Assembly eventually resolved to adopt the proposal by K. Santhanam that "the State shall take steps to organize Village Panchayats and endow them with such powers and authority as may be necessary to enable them to function as units of self – government".

In spite of that amendment included in the Constitution of India as one of the Directive Principles (Article 40), it remained in the dormant stage till the enactment of *the Constitution* (73rd Amendment) *Act, 1992*. Even after 1992, the Panchayats caused to work as self-dependent political and economic unit. They were never endowed with appropriate delegated functions to carry on their activities, nor with sufficient funds released by the State government for developmental actions.

The Constitution (73rd Amendment) *Act,1992*, established a three-tier structure of Panchayati Raj Institutions (PRIs), at the district, block and village levels. The electorate of the Gram Pancnayat (GP) at the lowest level constituted the Gram Sabhas (GSs). The Amendment added a separate part to the Constitution (Part IX) relating to Panchayats containing Articles 243 – 243-O. The 11th schedule in respect of 29 development items including "land improvement, irrigation, animal husbandry, fisheries, education, women and child development etc.," was also appended. Even if entrusted function for economic development and social justice were endowed on Panchayats, the required powers to execute the above said functions were not with the PRIs. However Panchayats being State subject (Article 246 read with List –II – State List of the Schedule 7), detailed provisions regarding *Panchayat Raj* system is contained in the respective

State / Union Territory *Panchayat Raj Acts*.

Public Participation and *Gram Sabhas*

The whole aspects of development were seen discussed in the Approach Paper to the Eighth Five year Plan. The document explores that the peoples' institutions should have the following essential features:

a. They are owned and managed by the users/stake – holders, producers or beneficiaries themselves.
b. They are accountable to the community.
c. They tend to bring about integration of various segments of society for the achievement of common goals of development.

Thus the role of the state should be to facilitate the process of people's involvement in developmental activities by creating the right type of institutional infrastructure particularly in rural area. The enablement and empowerment of Panchayats through devolution of fund, functionaries and functions (*the 3Fs*) are largely the responsibilities of the State Government.

The Constitution of India defines *Gram Sabha* (GS) as 'body consisting of persons registered in the electoral rolls relating to the village comprised within the area of Panchayat at the village level. It also provides that the GS may exercise such powers and functions at the village level as the concerned Legislature of a State may by law vest on it[1].

Even after two decades of working of democratic decentralization, the objectives of the plan documents for enhancement of participation and empowerment at the village level as well as improvement of the *PRIs* had not been achieved. The decision made at the *GSs* lack implementation and there is no follow-up machinery for that. It has only evolved to be a public forum to raise issues and take decisions. The implementation of the decisions made at the *GS* is required to be made at the sub – district level.

The slogan of the 12th Five Year Plan (2012 – 2017) is "Active Gram Sabha: for Empowered People and Accountable Panchayat". The working paper from the 12th five year plan envisages to increase the accountability of the GSs by:.

a. giving the GSs effective control over all the local institutions and functionaries.
b. Empowering the GSs to approve all plans, works, beneficiaries and utilization certificates.

[1] See Articles 243(b) and 243A of *the Constitution of India, 1950* .

c. Mandate social adult through the GSs for all major schemes to be videographed.
d. Set up Ombudsmen urgently for check on malfeasance and maladministration of the Panchayat.
e. Providing matching resources to the Panchayats against their own revenue.
f. To put Panchayat Accounts, plans etc. online in the public domain[1].

The power-to-the people exhortation through the 12th Plan would help to fulfill the concept of "Gram Swaraj" as envisioned by Mahatmaji. Panchayats are the key institutions for promoting good governance. As it is at the local level , participation and accountability can be ensured.The mission of Ministry of Panchayati Raj (MoPR) is launched as Empowerment, Enablement and Accountability of *PRIs* to ensure inclusive development with social justice , and efficient delivery of services.

*****

[1] Chapter 13 of the "Report of the working Group on PRIs and Rural Governance". Government of India, Planning Commission and Ministry of Panchayati Raj,*www.panchayat.gov.in* (2011)

भारत में राष्ट्र भाव संचार - वैदिक काल से वर्तमान तक

प्रो. ओम प्रकाश सिंह[1]

दुनिया शब्दों की है। दुनिया भाषा की है। कभी मनुष्य जंगली था तो उसकी भाषा और व्यवहार एक था। मनुष्य जैसे-जैसे सभ्य होने लगा, वैसे-वैसे भाषा, संस्कृति, मूल्य आदि की विविधता बढ़ने लगी। यह विविधता इतनी बढ़ी की मनुष्य एवं मनुष्यता उसी के तले दब गयी। आदिम अवस्था से वर्तमान समय तक की यात्रा में मनुष्य ने कैसे-कैसे भिन्नता का विकास किया, यह एक गूढ़ प्रश्न है। आप के मन में यह प्रश्न अवश्य होगा कि मनुष्य आदिम अवस्था से सामाजिक व्यवस्था की ओर बढ़ा तो उसमें भिन्नता का क्या अर्थ है? वास्तव में मानव के सामाजिक विकास में एकरूपता का स्वरूप नष्ट हुआ। उसका मूल स्वरूप बदलने लगा। एक मानव समाज में कभी एक भाषा थी, जैसे आज भी दुनिया के पशु समाज की भाषा एक है, पक्षियों की भाषा एक है, बस उच्चारण की शैली बदलती है, फिर भी उनमें अर्थ एंव संकेत बोध एक रहता है। शेर भारत का हो अथवा अमेरिका का उसकी शैली एवं व्यवहार एक है। कौआ भारत का हो अथवा अमेरिका का व्यवहार एवं उच्चारण एक ही जैसा है। अमेरिका का कौआ भारत में भी कोयल जैसा नहीं बोलेगा। इस प्रकार पशु-पक्षी समाज में एकरूपता है, परन्तु मनुष्य तो मनुष्य ही ठहरा। उसने अपनी एकरूपता मिटाकर भिन्नता को ही विकसित किया। यह भिन्नता मुख्यतः हमें भाषा के रूप में मिलती है। मानव के वैश्विक समाज में '3909 भाषाएँ हैं। यह मानवीय भिन्नता का श्रेष्ठ उदाहरण है। ये हजारों भाषाएँ कैसे अस्तिव में आयीं, यह एक रहस्यवादी प्रश्न है। हर भाषा के साथ लिपि भी जरूरी है। भाषा-बोली और शब्द अलग-अलग होने के बाद भी थोड़ी एकता लिपि के आधार पर है। दुनिया में मुख्यतः 24 लिपि परिवार हैं। इस समय भाषा की लिपि पर विचार करें तो यह परिणाम मिलता है कि आवश्यक नहीं कि दुनिया की हर बोली और भाषा की अपनी लिपि है। आप उदाहरण स्वरूप देख सकते हैं कि भारत में देवनागरी लिपि- संस्कृत, हिन्दी, नेपाली, मराठी, पाली आदि भाषाओं की आधार है। इसी प्रकार लिपि की निकटता तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाओं में हैं। बंगला व असमी भाषा भी एक लिपि से जुड़ी हैं। विश्व में देखें तो चीनी लिपि के साथ-साथ जापानी, कोरियाई आदि भाषाओं की निकटता है। पूरे योरोप में रोमन लिपि में अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रसियन एवं स्पेनिस आदि भाषाओं का व्यवहार होता है। अरबी लिपि की फारसी और उर्दू आदि से निकटता है। इस

1. प्रोफेसर एवं निदेशक,महामना मालवीय पत्रकारिता संस्थान,महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,वाराणसी, 221002 (उ.प्र)

प्रकार कह सकते हैं कि एक लिपि के आधार पर अनेक भाषायें दुनिया के व्यवहार में हैं।

मानव समाज की इस चर्चा में भाषा एवं लिपि का सवाल महत्वपूर्ण है। भाषा की भिन्नता के साथ-साथ लिपियों की भी भिन्नता विश्व में है, लेकिन एक लिपि के आधार पर खड़ी भाषाओं में परस्पर निकटकता एवं सम्पर्क दिखाई पड़ता है। भाषा का सामाजिक जीवन में अधिक महत्व है। हम जिस दुनिया में रह रहे हैं, उसमें भाषा के आधार पर अनके देशों का अस्तित्व व्यवहार में है। जर्मनी देश की भाषा जर्मन, इटली की भाषा इटेलियन, स्पेन की भाषा स्पेनिस, पोलैण्ड की भाषा पोलिश, इंग्लिस्तान (ब्रिटेन) की भाषा इंग्लिस, फ्रांस की भाषा फ्रेंच, रूस की भाषा रूसी, चीन की भाषा चायनीज, बंगलादेश की भाषा बंगला, जापान की भाषा जापानीज, अरब की भाषा अरबी, नेपाल की नेपाली भाषा आदि ऐसे उदाहरण हैं जहां देश का अथवा राज्य का नाम ही भाषा आधारित है। इसके विपरीत भारत जैसे भी देश हैं जहां देश अथवा राष्ट्र का प्रतीक भाषा से नहीं जुड़ा है। भाषा जैसी सीमित पहचान से नहीं जुड़कर व्यापक आधार एवं दृष्टि वाले देश का नाम है भारत। भारत का अर्थ भी व्यापक है। शाब्दिक दृष्टि से विचार करें तो हमें इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ मिलता है- भारत = भरत + अण् अर्थात् भारत देश।[1] भारत शब्द अति प्राचीन है। ऋग्वेद में भारत का उल्लेख इस प्रकार है-

(1) उदग्ने भारत द्युमत् (ऋ. 6/16/45) अर्थात् समस्त संसार का भरण-पोषण करने वाला।

(2) त्वं नो असि भारताऽग्ने (ऋ. 7/7/5) अर्थात् सबका पालक-पोषक।

(3) तस्मा अग्निर्भारतः शर्म यंसत् (ऋ. 4/25/4) अर्थात् सब मनुष्यों का हितैषी।[2]

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारत के ये व्यापक अर्थ विश्व के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में प्रयुक्त हैं। भारत के संविधान के प्रथम अनुच्छेद में भी हमारे देश का नाम 'भारत' उल्लिखिति है।[3] इससे स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टि वैदिक काल से ही व्यापक रही है। भाषायी पहचान की सीमा में बंधे योरोपीय राज्यों से उत्पन्न नये वादों एवं विचारधाराओं में व्यापकता खोजना एक हास्यास्पद संदर्भ है। उक्त भाषाई परिवेश में उत्पन्न और लुप्त, मार्क्सवाद, सेक्युलरवाद, आदि व्यापक नहीं बन सके, क्यों कि इनकी पृष्ठभूमि ही संकुचित रही।

दुनिया की भाषाओं में भी परस्पर भिन्नतायें हैं। यह भिन्नता कई रूपों में है। यदि भाषाओं की परस्पर की भिन्नताओं में मुख्य भिन्नता पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि, सबसे बड़ी भिन्नता शब्द शक्ति की है अर्थात् दुनिया की सभी भाषाओं में शब्द समान मात्रा में नहीं है। जैसे संस्कृत भाषा का शब्दकोश सबसे बड़ा है। संस्कृत भाषा के शब्दकोश में 20,40,000 (बीस लाख चालीस हजार) शब्द है। जबकि अंग्रेजी शब्दकोश में 1,71,476 (एक लाख इकहत्तर हजार चार सौ छिहत्तर) शब्द है।[4] शब्दकोशों में शब्दों की भिन्नता की

1. आप्टे वामन शिव, संस्कृत हिन्दी कोश, नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली, 1996, पृ.- 736
2. उपाध्याय चन्द्रशेखर व अन्य, वैदिक कोश, नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली, 1995, भाग- 3, पृ.- 1005
3. भारत का संविधान, राजभाषा खण्ड, विधि मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1985, पृ.-2
4. दीक्षान्त स्मारिका, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 2017, पृ.- 58

चर्चा इस कारण महत्वपूर्ण है, क्योंकि शब्दों की संख्यात्मक भिन्नता में अनेक शब्दों में परस्पर समरूपता प्राप्त नहीं हो सकेगी। इसी कारण 20,40,000 शब्दों वाले संस्कृत शब्दकोश के प्रत्येक शब्द का समानार्थी अंग्रेजी भाषा में मिलना सम्भव नहीं है, क्योंकि संस्कृत की तुलना में अंग्रेजी के शब्द 1/20 अर्थात बीसवें भाग (1,71,476) के बराबर हैं। इस कारण यह तो सम्भव है कि अंग्रेजी के प्रत्येक शब्द का समानार्थी शब्द संस्कृत में हमें मिले, लेकिन संस्कृत भाषा के प्रत्येक शब्द का समानार्थी शब्द अंग्रेजी भाषा में सम्भव नहीं है। इसी कारण संस्कृत भाषा का 'राष्ट्र' शब्द अंग्रेजी के 'नेशन' (Nation) शब्द का समानार्थी नहीं हो सकता। राष्ट्र और नेशन शब्दों की चर्चा इस कारण कर रहा हूँ क्योंकि यही दो शब्द इस शोध पत्र के मुख्य एवं आधार शब्द हैं।

01. 'राष्ट्र' शब्द की भावभूमिः

ऊपर के संदर्भ विवेचन में हमने कहा कि विश्व के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में 'राष्ट्र' शब्द का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में राष्ट्र शब्द का उल्लेख विभिन्न अर्थों में तथा विभिन्न संदर्भों में आया है, लेकिन इतना सत्य है कि ऋग्वेद में उल्लिखित राष्ट्र शब्द किसी भौगोलिक भूमि अथवा भाषाई क्षेत्र से नहीं जुड़ा है वरन् इससे व्यापक अर्थों में इसका उपयोग किया गया है। वैदिक 'राष्ट्र' की अवधारणा में राष्ट्र में रहने वालों से अपेक्षा की गयी है तथा इस में 'राष्ट्र' की रक्षा का भी संकल्प है। उक्त का वर्णन निम्न है-

(क). 'प्र पूर्वाभिस्तिरते राष्ट्रि शरः' (ऋ. 1/104/4) - अर्थात शूर वीर राजा धनैश्वर्यों से पूर्ण राष्ट्र में प्रकाशित होता है।

(ख). 'यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि, राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा' (ऋ. 8/100/10) अर्थात् - जब माध्यमिक वाक् (भाव) शब्द रूपी गर्जन लक्षण वाली अविज्ञातार्थ ध्वनि करती है। माध्यमिक देवताओं की ईश्वरा (राष्ट्री) लोक को प्रसन्न करने वाली वर्षा बरसाने लगती है अथवा अविज्ञात अर्थों को बताने वाली विद्वान लोगों की स्वामिनी (राष्ट्री) प्रसन्नता देने वाली वाणी प्राप्त होती है।

(ग). 'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्' - (ऋ. 10/125/3)[1]

अर्थात राष्ट्र की स्वामिनी शक्ति।

राष्ट्र सम्बन्धी उक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि राष्ट्र शब्द के साथ-साथ राष्ट्र शब्द से जुड़े अनेक शब्द ऋग्वेद में उल्लिखित हैं। इन प्रत्यक्ष राष्ट्रवाची शब्दों के अलावा निम्न अर्थों में भी राष्ट्र का उल्लेख है-

(क). 'समाने अधि भार्मन' - (ऋ. 8/2/07) - यहां भार्मन शब्द का अर्थ है भरण-पोषण करने योग्य राष्ट्र।

(ख). 'सत्रा यदीं भार्वरस्य वृष्णः' - (ऋ. 4/21/7) - यहां भार्वरः शब्द का अभिप्राय है समस्त राष्ट्र का भरण

1. उपाध्याय चन्द्रशेखर व अन्य, वैदिक कोश, उक्त, पृ.- 1005

पोषण करने वाला।[1]

(ग). 'हंतारं भंगुरावतां' - (ऋ. 10/87/22) यहां भंगूरावत् का अर्थ राष्ट्र को तोड़-फोड़ डालने वाला।[2]

उक्त से स्पष्ट है कि तोड़-फोड़ उसी का होता है जिसका अस्तित्व होता है। वैदिक साहित्य पर विचार करें तो हमें वैदिक राष्ट्र भाव भूमि पर खड़ा जीवन्त अथवा विद्यमान इकाई है।

ऋग्वेद के साथ-साथ अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, वाजपेय संहिता, तैत्तरीय ब्राह्मण आदि में राष्ट्र शब्द का उल्लेख है, जो निम्न प्रकार हैः-

(क). वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा (वाज. सं 10/2 एवं श. ब्रा.- 5/3/4/5) यहां राष्ट्रदा का अर्थ राष्ट्र को देने में समर्थ प्रजा/जनता से है।

(ख). 'ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः' - (अ. 10/3/16) - अथर्ववेद के इस राष्ट्रदिप्सु/राष्ट्रदिप्सवः का अर्थ है राष्ट्र पर घात लगाने वाला।

(ग). 'उग्रं पश्ये राष्ट्रभृत् किल्लीवषाणि' (अ. 6/118/2) अथर्ववेद के इस भाग में राष्ट्रभृत्/राष्ट्रभूत का अर्थ है अपराधी तत्वों से राष्ट्र का बचाव करने वाली संस्था।

इसी प्रकार- अथर्ववेद में यह उल्लेख है कि-

'उग्रं पश्या राष्ट्र भृतो ह्यक्षाः' (अ. 7/109/6) - इसमें भी राष्ट्रभृत्य का अभिप्राय राष्ट्र रक्षकों से है।

(घ). राष्ट्रभृत्य शब्द का उल्लेख अथर्ववेद में इस प्रकार है-

'अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय' (अ. 19/37/3) यहां राष्ट्रभृत्य का अर्थ राष्ट्र के भरण पोषण से है।[3]

विश्व के सबसे प्राचीन तथा प्रथम शब्दकोश 'अमरकोष' में भी राष्ट्र शब्द का उल्लेख निम्न प्रकार है-

'अथ राष्ट्रोऽस्त्री विषये स्यादुपद्रवे' ।।183।।

यहां 'राष्ट्र' शब्द को (पुलिंग एवं नपुंसक लिंग) दर्शाया गया है। जिसका अभिप्राय 'देश' आदि है।[4] उक्त से स्पष्ट है कि 'राष्ट्र' शब्द 'देश' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया।

भागवत महापुराण में राष्ट्र पुलिंग वाचक तथा पुरूरवा वंश में उत्पन्न काशिका पुत्र दीर्घतमा के पिता के रूप में वर्णित है। मत्स्य एवं वायु पुराण में भी राष्ट्रभृत शब्द का उल्लेख राजा भरत के एक पुत्र के रूप में है।[5]

1. उपाध्याय चन्द्रशेखर व अन्य, वैदिक कोश, पृ.- 1006
2. उपाध्याय चन्द्रशेखर व अन्य, वैदिक कोश, पृ.- 999
3. उपाध्याय चन्द्रशेखर व अन्य, वैदिक कोश, उक्त, पृ.- 1143
4. श्रीमन्नालाल, अमरकोषः, चैखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2015, पृ.- 278
5. शर्मा राजाप्रसाद, पौराणिक कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, 2013, पृ.- 446

मनुस्मृति में भी 'राष्ट्र' से जुड़े शब्दों का उल्लेख है। इनका वर्णन निम्न है-

(क). राष्ट्रम् (राज + ष्ट्रन) अर्थात् देश, साम्राज्य आदि (मनु. 7/109)।

(ख). राष्ट्रिक (राष्ट्र + ठक्) किसी राज्य या देश के वासी (मनु. 10/61)

मनुस्मृति के अतिरिक्त मृच्छकटिकम् में भी राष्ट्रिय/राष्ट्रीय शब्द का उल्लेख है। राष्ट्रीय का अर्थ राज्य से सम्बन्ध रखने वाले के अर्थ में यह प्रयोग है।[1]

उक्त से स्पष्ट है कि राष्ट्र शब्द देश के समानार्थी भी माना गया है। ऋग्वेद से प्रारम्भ राष्ट्र शब्द का उल्लेख उत्तरवर्ती साहित्य में निरन्तर किया गया है। राष्ट्र शब्द को अमरकोष एवं मनुस्मृति में 'देश' शब्द के समानार्थी माना गया है। इस प्रकार राष्ट्र एवं देश के समान भाव वाले संदर्भ भी हैं।

02.'देश' शब्द के संदर्भः

ऋग्वेद में राष्ट्र शब्द का उल्लेख है, परन्तु राष्ट्र के समान अर्थ में देश शब्द का उल्लेख अथर्ववेद में इस प्रकार है-

'देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु' (अ. 19/9/9)[2] अर्थात् देश में उत्पन्न होने वाले संहारक उपद्रव अर्थ देशोपसर्गाः का है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'देशोपसर्ग' का उपयोग देश के उपद्रव एवं अशांति से है। इस मंत्र में उपद्रव एवं अशांति के शमन की कामना की गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्ववेद से ही राष्ट्र शब्द के समानार्थी अथवा पर्यायवाची के रूप में 'देश' शब्द का प्रयोग चल पड़ा था, जिसे 'अमरकोश' एवं मनुस्मृति में भी स्थान दिया गया।

अब हम 'देश' शब्द के अर्थ एवं अभिप्राय पर विचार करेंगे। 'देश' शब्द पर विस्तृत विचार 'सोम्बारी बाबा' ने 'दैशिक शास्त्र' नामक ग्रन्थ में किया गया है। 'दैशिक शास्त्र' के 'दैशिक' शब्द पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि पाणिनि के 'रक्षति' सूत्र के अनुसार 'देश' शब्द में 'इक्' प्रत्यय लगने से 'दैशिक' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है देश की रक्षा करने वाला। इस प्रकार दैशिक शास्त्र देश की रक्षा करने वाला शास्त्र है।[3]

उक्त 'दैशिक शास्त्र' के द्वितीय अध्याय में देश शब्द के अर्थ का उल्लेख है। 'देश' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, इनमें एक है राष्ट्र। 'देश' राष्ट्र के लिए भी प्रयुक्त है-

'अन्योन्य देश प्रविभाग सीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः'

उक्त वाक्य में 'देश' शब्द राष्ट्र के अर्थ में प्रयुक्त है। दैशिक शास्त्र के अनुसार वाल्मीकि रामायण में उल्लेख है कि ताटका वध देश हित के लिए है- 'देशास्य च हिताय च'।[4] 'दैशिक शास्त्र' के अनुसार दिश धातु

1. आप्टे वामन शिव, संस्कृत हिन्दी कोश, उक्त, पृ.- 856
2. उपाध्याय चन्द्रशेखर व अन्य, वैदिक कोश, उक्त, पृ.- 734
3. ठुलधरिया बद्रीशाह, दैशिक शास्त्र, पुनरुत्थान प्रकाशन सेवा ट्रस्ट, अहमदाबाद, 2014, पृ.-9
4. वाल्मीकि रामायण, गीता प्रेस गोरखपुर, संवत- 2049, पृ.- 83

से धञ् प्रत्यय लगाने से देश शब्द बनता है। अर्थात् 'दिशितीति देशः' का अभिप्राय है पृथ्वी का ऐसा भाग जिस में रहने वाले भूमि से मातृक ममत्व या जैसा ममत्व पुत्र का माता के प्रति होता है, वैसा ही ममत्व रखते हों। इस प्रकार देश, निवासियों का भूमि के प्रति ममत्व भाव रखने से जुड़ा है।[1] इस प्रकार 'देश' एक भाव है और राष्ट्र भी भावनात्मक इकाई हुआ, क्योंकि राष्ट्र भी देश का पर्याय है।

दैशिक शास्त्र के अनुसार देश अनेकों आवर्तों में तथा प्रत्येक आवर्त अनेकों राष्ट्रों में, राष्ट्र पुरों में तथा प्रत्येक पुर अनेक ग्रामों से घिरा रहता था। देश की विशेषता चिति समझी जाती थी और उसके अधिष्ठाता ऋषि होते थे। आवर्त की विशेषता आचार था और इस के अधिष्ठाता आचार्य होते थे। राष्ट्र की विशेषता शास्त्रों द्वारा समझी जाती थी और अधिष्ठाता विद्वान होते थे। पुर की विशेषता व्यवसाय थी और इसके अधिष्ठाता व्यवसायी थे। ग्राम की विशेषता और अधिष्ठाता अर्थोत्पादक थे।[2]

उक्त के साथ यह भी उल्लेख है कि देश की सीमा में किसी राष्ट्र का परराष्ट्र से युद्ध छिड़ता था तो वह युद्ध समस्त देश का समझा जाता था।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि देश भाव व्याप्त था। इसी के साथ राष्ट्र भी व्यवहार में था। कालांतर में अश्वमेध यज्ञ की व्यवस्था एवं चक्रवर्ती राजाओं की व्यवस्था तथा सम्राट एवं विदेश सम्बन्धों में विजिगीषु की व्यवस्थाओं ने राष्ट्र एवं देश को एक अभिप्राय में खड़ा किया। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि 'चक्रवर्ती व्यवस्था' एवं अखण्ड साम्राज्य का एक क्रम स्थापित हुआ यह व्यवस्था बौद्ध काल में आयी।[4] इस प्रकार उत्तरवर्ती काल में चक्रवर्ती एवं साम्रज्य व्यवस्था के फलस्वरूप देश का पर्याय राष्ट्र बना। इसकी विशेषताओं का वर्णन आगे करेंगे।

देश अथवा राष्ट्र को एक अंग में गुथने के अनेक उपाय आचार्यों ने कहे हैं। इनका उल्लेख दैशिक शास्त्र में इस प्रकार है-

(क) देश में एक सम्राट हो। सम्राट का पद अन्वयागत न होकर गुणोत्कर्षानुसारी हो अर्थात् राष्ट्र का शासक राष्ट्रवर्धक सिद्ध होने के साथ-साथ देशवर्धक हो। उसे राजसूय यज्ञ तथा सामराज्याभिषेक के योग्य समझा जाय। राष्ट्रवर्धन राजा में प्रजानुराग, क्षत्रबल हो। शिशुपाल एंव जरासन्ध में उक्त में एक बल नहीं होने से राजसूय यज्ञ नहीं कर सकें।

(ख) साम्राज्य में देश के समस्त महारथियों, महापुरुषों, दैशिकाचार्यों एंव विद्वानों में अर्थैक्य बना रहे।

(ग) बह्मचारी वानप्रस्थ और सन्यासी को समस्त देश में अपना समझा जाए। वे किसी एक स्थान से ममता नहीं कर समस्त देश को अपना समझें।

1. ठुलधरिया बद्रीशाह, दैशिक शास्त्र, पुनरूत्थान प्रकाशन सेवा ट्रस्ट, अहमदाबाद, 2014, पृ.- 22-23
2. ठुलधरिया बद्रीशाह, दैशिक शास्त्र, पुनरूत्थान प्रकाशन सेवा ट्रस्ट, अहमदाबाद, 2014, पृ.- 128-129
3. ठुलधरिया बद्रीशाह, दैशिक शास्त्र, पुनरूत्थान प्रकाशन सेवा ट्रस्ट, अहमदाबाद, 2014, पृ.- 128-129
4. राव कृष्णा एम.वी., कोटिल्यी अर्थशास्त्र का सर्वेक्षण, रतन प्रकाशन मंदिर आगरा, 1961, पृ.- 77

(घ) समस्त राष्ट्र में एक तीर्थ हो जिस पर देश का स्वत्व हो।

(ड.) कम से कम एक बार सभी तीर्थाटन करें।

(च) परिव्राजक सदा भ्रमण कर एकत्व भाव बनाये रखें।

(छ) किसी नियत पर्व व एक नियत तीर्थ स्थान में धर्म मीमांसक एवं आचार्य सम्मिलित हों। ऐसे पर्वों/तीर्थों में अब केवल कुम्भ पर्व शेष है।

(ज) राष्ट्रीय/देश के प्रार्थना एवं संस्कार आदि की एक श्रेष्ठ भाषा हो।

(झ) समस्त देश/राष्ट्र में आचार एवं व्यवस्था समान हो। पर्व एवं उत्सव सर्वत्र मनाये जायें।[1]

वास्तव में उक्त तीर्थ, पर्व एवं कुम्भ, संयासी, आचार्य एंव संस्कार आदि के कारण हमारे राष्ट्र की व्यवस्था कालजयी रही तथा वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय में भी समाज की आवश्यकता के अनुरूप आंशिक परिवर्तनों के साथ वर्तमान अपनी यात्रा में है। पश्चिम में भारतीय राष्ट्र/देश शब्द के निकटवर्ती शब्द नेशन (Nation) की यात्रा जारी है। नेशन राष्ट्र/देश के समानार्थी नहीं है। भले ही कुछ एवं आंशिक निकटता पायी जाती हो।

03.नेशन (Nation)/जाति शब्द के संदर्भः

वर्तमान समय में पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव मे अंग्रेजी के शब्द 'नेशन' (Nation) को राष्ट्र के अर्थों में कुछ लोग देखने का प्रयास भ्रम वश करते हैं। अंग्रेजी के नेशन (Nation) शब्द का अर्थ 'जाति' होता है। जाति अथवा (Nation)/नेशन का अभिप्राय- 'एक मत, एक रीति को मानने वाला, एक भाषा बोलने वाला, एक राज्य के अधीन रहने वाला, जन समुदाय ही नेशन/जाति है।'[2] इस प्रकार उक्त नेशन की जो विशेषतायें हैं, वे राष्ट्र की तुलना में सीमित तथा संकीर्ण हैं। नेशन (Nation) शब्द का लैटिन शब्द 'नेशियो (Natio) से उद्भव हुआ। नेशियो का अर्थ पैदा होना अथवा जन्म लेना है। नेशियो/नेशन शब्द जातीय (Racial) अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार नेशन का सम्बन्ध एक जाति अथवा नस्ल से है। इस प्रकार नेशन उस मानवीय समूह को कहते हैं जो जाति, धर्म, भाषा, परम्परा, संस्कृति आदि के परिणामस्वरूप एक हो।[3]

भारतीय राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ए.आर. देशाई ने ई.एच. कार द्वारा दी गयी नेशन (Nation) की परिभाषा देते हुए लिखा है कि- 'जो गुण किसी नेशन को अन्य जन समुदायों से पृथक करते हैं उनकी विशेषता निम्न है-

(क) अतीत और वर्तमान में वास्तविकता अथवा भविष्य के लिए आकांक्षा रूप सर्वनिष्ठ सरकार।

(ख) अपना विशिष्ट आकार और सदस्यों का पारस्परिक सम्पर्क।

1. ठुलधरिया बद्रीशाह, दैशिक शास्त्र, उक्त, पृ.- 130-131
2. ठुलधरिया बद्रीशाह, दैशिक शास्त्र, उक्त, पृ.- 24
3. सिंह वीरकेश्वर प्रसाद, राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा प्रकाशन, पटना, 1976, पृ.- 274

(ग) न्यूनाधिक निर्धारित भू-भाग।

(घ) ऐसी चारित्रिक विशेषतायें (भाषा इसमें प्रमुख है), जो किसी नेशन को अन्य से अलग करती है।

(ड.) सदस्यों के सम्मिलित स्वार्थ।

(च) सदस्यों के मन में नेशन की छवि एवं उससे सम्बन्धित इच्छाशक्ति।

उक्त नेशन (जातीय) की विशेषता योरोपीय एंव पश्चिमी राज्यों की है। ए.आर. देशाई के अनुसार इंग्लैण्ड में नेशन की स्थापना पहले हुई। रोमन चर्च की सत्ता के विरुद्ध इंग्लैण्ड को घोर संघर्ष करना पड़ा परिणामस्वरूप राष्ट्रीय प्रोटेस्टेन्ट चर्च की स्थापना हुई तथा नेशनलिस्ट राज्य की स्थापना हो सकी। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त राष्ट्रसंघ एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना यह प्रमाणित करती है कि आज का मानव समाज मूलतः नेशन निर्मित है तथा विभिन्न नेशन्स की संगुटिका है। आधुनिक युग में नेशन ही लोकजीवन का सर्वमान्य प्रचलित रूप है।[1] ए.आर. देशाई के अनुसार 'नेशन' के लोग निश्चित भू-भाग में रहते हैं तथा प्रायः एक ही भाषा बोलते हैं और उनका सम्मिलित आर्थिक जीवन होता है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि योरोप में नेशन भाषा के आधार पर खड़ा है। अंग्रेजी भाषा का इंग्लिशतान, फ्रेंच भाषा का फ्रांस, जर्मन भाषा का जर्मनी, रूसी भाषा का रूस, पोलिश भाषा का पौलैण्ड जैसे नेशन बने, जो आज भी हैं। इस नेशन के विकास में योरोपिय राज्यों के अपने संघर्ष के साथ-साथ रोमन चर्च के प्रभुत्व के खिलाफ संघर्ष भी प्रमुख था। अतः चर्च एवं राजा/राज्य के संघर्ष आदि नेशन भाव के कारक रहे। मुख्यतः चर्च एवं राज्य के संघर्ष में राज्य इकाई का शीर्ष राजा बना और राज्य से परे उसी भू-भाग में चर्च का प्रभुत्व रहा। भाषा आदि को नेशन की संज्ञा मिली और यही 'नेशन स्टेट' की आधार बनी। इस प्रकार स्पष्ट है कि नेशन का आधार भाषायी एवं संकुचित है तथा वह राष्ट्र जैसा व्यापक नहीं है।

04. निष्कार्षात्मक संदर्भः

वैदिक काल से प्रचलित राष्ट्र शब्द का समानार्थी शब्द नेशन नहीं है। भारतीय राष्ट्र की इस प्राचीन अवधारणा एवं भाव को अपनी वैचारिकी सीमा की दृष्टि से देखने के कारण कम्युनिस्ट एंव सेक्युलरवादी इस ऐतिहासिक सच्चाई को नकारते हैं। इसका उदाहरण हाल में प्रकाशित पुस्तक 'प्रतिमान (रजनी कोठारी की प्रतीक्षा)' में देखने को मिलता है। इसमें लिखा है कि 'दुनिया में ऐसा कोई लोकतंत्र नहीं है जो राष्ट्र-राज्य (Nation-State) न हो। ऐसे में यह सोचना जरूरी हो गया है कि हम अपने राष्ट्रीय समाज का स्वरूप कैसे गढ़ें?'[3] इतना ही नहीं ये लोग 'इंडिया फर्स्ट' के प्रधान मंत्री मोदी के विकास के नारे को भी राजकीय राष्ट्रवाद

1. देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1977, पृ.- 2-3

2. देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1977, पृ. 309

3. दूबे अभय, प्रतिमान, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015, पृ.- 20

की मजहबी दृष्टि से मापने का घृणित प्रयास करते हैं।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत में एक ऐसा विचारवादी वर्ग है, जो इतिहास एवं यथार्थ को नकार कर पश्चिमी नक्शे पर चलकर भारतीय राष्ट्रवाद की अवधारणा को तोड़ता है।

भारत में 'राष्ट्र' शब्द के वैदिककालीन भाव में उत्तर वैदिककाल में समानार्थी अन्य शब्द जुड़े। यह उल्लेख प्रसिद्ध इतिहासविद् के.पी. जायसवाल ने हिन्दू राज्यतंत्र (द्वितीय खण्ड) में किया है। उनके अनुसार लगभग 600 ई. पूर्व 'देश' का विचार अस्तित्व में था। बड़े-बड़े राज्यों या साम्राज्यों के समय जाति, विश या जनपद आदि की अपेक्षा देश का महत्व बढ़ा। जनपद शब्द का आशय अर्थ वही हो गया, जिसे हम लोग देश कहते हैं। ई.पू. 600 से 600 ई. तक के काल में राज्य के दो विभाग थे- एक राजधानी और दूसरे विभाग को पूर या नगर कहते थे और देश को जनपद कहते थे, जिसका पर्याय राष्ट्र या देश होता था। यह व्यवहार पाली भाषा के बौद्ध त्रिपिटक, रामायण, महाभारत और दूसरे ग्रन्थों तथा शिलालेखों में मिलता है।[2]

के.पी. जायसवाल ने यह भी लिखा है कि- मनु, याज्ञवल्क्य का जनपद तथा कौटिल्य का देश संघ एक ही है। इस प्रकार जानपद/जनपद का एक और पर्याय 'राष्ट्र' भी है। यह उल्लेख दशकुमारचरित (अध्याय-3) एवं वीरमित्रोदय आदि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी है।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि जानपद/जनपद, देश, राष्ट्र समान अर्थ में प्रयुक्त हैं।

रामराज्य और मार्क्सवाद नाम पुस्तक में स्वामी करपात्री जी ने लिखा है कि- समाज का आधार व्यक्ति है, परन्तु बिना संघटन के समाज नहीं बनता है। संगठित व्यक्तियों का प्रथम समाज कुटुम्ब है। कुटुम्ब के संचालन में जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वही गुण राष्ट्र के संचालन में भी आवश्यक हैं।[4] राष्ट्र की आवश्यकता प्राथमिक है। राष्ट्र हितानुकूल योजना का अनुसरण सभी को करना चाहिए। कोई भी राष्ट्र से परे नहीं है।[5]

महात्मा गांधी ने मुस्लिम लीग के द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त पर कहा था- 'द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त असत्य है। भारत के अधिसंख्यक मुसलमानों ने धर्म परिवर्तन से इस्लाम स्वीकर किया है। जैसे ही उनका धर्म बदला वे एक अलग राष्ट्र नहीं हो गये। बंगाल के हिन्दू-मुसलमान बंगला बोलते हैं। वे एक जैसा मनोरंजन, भोजन एवं वस्त्र पहनते हैं। यही बात दक्षिण में भी है। भारत में हिन्दू-मुसलमान दो राष्ट्र नहीं हैं। इन्हें भगवान ने एक राष्ट्र ही बनाया है।'

1. दूबे अभय, प्रतिमान, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015, पृ.-25
2. जायसवाल काशी प्रसाद, हिन्दू राज्यतन्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृ.-50-51
3. जायसवाल काशी प्रसाद, हिन्दू राज्यतन्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृ.-54-56
4. स्वामी करपात्रीजी, मार्क्सवाद और रामराज्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत- 2066 पृ.- 296-297
5. स्वामी करपात्रीजी, मार्क्सवाद और रामराज्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत- 2066 पृ.- 401-402

अमेरिकी पत्रकार लुई फिशर से भी महात्मा गांधी ने कहा था- 'हम दो राष्ट्र नहीं हैं। भारत में हमारी सम्मिलित संस्कृति है। उत्तर में हिन्दी-उर्दू को हिन्दू-मुसलमान समझते हैं। मद्रास में हिन्दू-मुसलमान तमिल बोलते हैं। हमारे अंधविश्वासों के कारण उपद्रव होते हैं, न कि इसलिए कि हम भिन्न राष्ट्रीय इकाइयाँ हैं।'[1]

सर चिमनलाल एच. सेटवाड ने कहा था- 'मि. जिन्ना कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान एक राष्ट्र नहीं हो सकते, क्योंकि वे एक साथ खाते-पीते नहीं, आपस में शादी नहीं करते और उनके दो धर्म दर्शन हैं। लेकिन हिन्दुओं में भी तो भिन्न समुदाय के लोग एक साथ खते-पीते नहीं, आपस में शादी-ब्याह भी नहीं करते हैं- जैन, बौद्ध, लिंगायत आदि के अपने धर्म तथा देवता हैं, क्या ये सब अलग राष्ट्र हैं?[2]

हिन्दू महासभा के अध्यक्ष बी.डी. सावरकर ने कहा है कि- 'हमारे लिए भारत माता एक और अभिवाज्य हैं। वैदिक युग से आज तक भारत की एकता एक स्थापित तथ्य है। इसलिए भारत के बंटवारे की मांग हिन्दू कभी बरर्दाश्त नहीं कर सकते।'[3] भारत शब्द राष्ट्रीय आन्दोलन में वैदिक कालीन राष्ट्र का पर्याय था।

'थाट्स आन पाकिस्तान' नामक पुस्तक में डॉ. भीमराव अंबेडकर ने लिखा है- 'राष्ट्र एक जीवित आत्मा है, एक आध्यात्मिक सिद्धान्त। ये दोनों भी परस्पर एक ही हैं, क्योंकि जीवित आत्मा ही आध्यात्मिक सिद्धान्त का निर्माण करती है। इस में एक अतीत में और एक वर्तमान में निहित है। एक स्मृतियों से सम्पन्न उत्ताधिकार का स्वत्व भोग है दूसरा साथ रहने की इच्छा या वास्तविक स्वीकार भाव है। परम्परा से मिले अविभाजित उत्तराधिकार के सुयोग संरक्षण की इच्छा है।'[4]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राष्ट्र एक भाव है। राष्ट्र एवं देश और भारत समानार्थी हैं। राष्ट्र एक जीवित आत्मा एवं आध्यात्मिक सिद्धान्त है। यही हमारी मान्यता अनादिकाल से चली आ रही है। भारत एक प्रकृति प्रदत्त राष्ट्र है, जिसे संवैधानिक मान्यता प्राप्त है। राष्ट्र के समतुल्य पश्चिम का शब्द नेशन (Nation) या जातीय नहीं है, क्योंकि नेशन का अभिप्राय सीमित एवं संकुचित है। इसी के साथ-साथ यह भी महत्वपूर्ण है कि 'राष्ट्र' शब्द का उद्भव, प्रचलन एवं उपयोग भारतीय पृष्ठभूमि का है। इस के विपरीत नेशन शब्द विदेशी पृष्ठभूमि का उद्भूत शब्द है। यह अन्तर माता और विमाता (सौतेली) जैसा है। इस प्रकार राष्ट्र एक भाव है। इसका संचार वर्तमान में भी जारी है।

*****

1. देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, उक्त, पृ.- 337
2. देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, उक्त, पृ.- 341
3. वही,
4. देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, उक्त,पृ.- 341-342

भारत 'राष्ट्र' की ''चिति''

(दीनदयाल उपाध्याय जी की दृष्टि में)

ओम प्रकाश मिश्र[1]

'राष्ट्र' व 'देश' शब्द की एक संकल्पना नहीं हैं। देश बनने के लिए भूमि का टुकड़ा तथा जनसंख्या, दो आवश्यक तत्व हैं, किंतु लोगों के राष्ट्र होने के लिए तीन घटक आवश्यक हैं। पहला, जिस देश में लोग रहते हैं, उस भूमि के बारे में 'मातृ' भाव का होना। दूसरा, उनकी समान संस्कृति या मूल्य-अवधारणा (Value System) तथा तीसरा, अपने पुरखों के बारे में व अपने इतिहास के विषय में भावना। दीनदयाल उपाध्याय जी ने 'राष्ट्र' व देश, के अन्तर को स्पष्ट किया है। ''भूमि'' और ''जन'' को मिलाकर देश बनता हैं। एक निश्चित भूमिखण्ड और उसमें निवास करने वाला मानव समुदाय देश कहा जाता है। देश दृष्यमान सत्ता है। देश दिखाई पड़ता है, इसलिए जब हम राष्ट्र का वर्णन करने लगते हैं तो हमें इसी दृश्यमान देश का वर्णन करना पड़ता है। यही कारण है कि जिससे देश व राष्ट्र समानार्थी बनकर उपस्थित होते हैं। जिस प्रकार 'राज्य' राष्ट्र का प्रतिनिधि बनकर हमें दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार देश भी, राष्ट्र की अभिव्यक्ति का ठोस आधार बनकर हमारे सामने उपस्थित होता है।.....जिस प्रकार देश एक दृष्यमान सत्ता है, उसी प्रकार 'राष्ट्र' एक अदृष्यमान सत्ता है। देश दिखाई पड़ता है, राष्ट्र दिखाई नहीं पड़ता। ठीक वैसे ही जैसे शरीर दिखाई पड़ता है, आत्मा दिखाई नहीं पड़ती और यह भी कि बिना शरीर के आत्मा का प्रकटीकरण नहीं हो सकता, साथ ही बिना आत्मा के शरीर मुरदा ही गिना जाएगा।..... जमीन का टुकड़ा मात्र होने से कोई राष्ट्र नहीं बन जाता।.... जो महत्व व्यक्ति जीवन में व्यक्ति की अस्मिता का है, वैसा ही राष्ट्रीय अस्मिता का भी है।.....

राष्ट्रीय अस्मिता रहने से राष्ट्र जीवित रहता है, उसके क्षीण पड़ने से राष्ट्र कमजोर होता है और उसके लोप अथवा विस्मरण होने से सम्पूर्ण राष्ट्र का विनाश होने लगता है। विश्वपटल पर कितने ही राष्ट्र आज अतीत की स्मृति मात्र बन गये। इसका कारण भी यही है। वहाँ का भूमिखण्ड और लोग आज भी हैं, फिर भी प्राचीन ईरान, यूनान, मिस्र सब समाप्त हो गये। यानी राष्ट्र की अस्मिता, उसकी मूल प्रकृति नष्ट हो गई। राष्ट्र

1. पूर्व अधिकारी भारतीय रेल एवं पूर्व प्रवक्ता इलाहाबाद विश्वविद्यालय

का स्वरूप उसकी अस्मिता में निवास करता है। .....उस भूमिखण्ड के साथ उसका संबंध माँ और पुत्र के समान रहता है। अपनी जीवनाधार मूल प्रकृति के समस्त पोषण तत्व उसे इसी भूमि से ही मिलते हैं। यह मातृभूमि ही उसका सब भाँति पोषण संवर्द्धन करती है। यानी भूमिखण्ड केवल भूमि का टुकड़ा न होकर जीवंत मातृशक्ति के रूप में उपस्थित रहता है। ...जन और भूमि का यह परस्पर संबंध पुत्र और माँ का संबंध है। .....हमारी राष्ट्रीयता का आधार 'भारतमाता' है, केवल भारत नहीं। माता शब्द को हटा दीजिए तो भारत केवल जमीन का एक टुकड़ा मात्र रह जायेगा।''[1]

अब प्रश्न उठता है कि 'चिति' से क्या आशय है। 'चिति' का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है। 'चिति' की स्पष्ट व्याख्या ''दैशिक शास्त्र''[2] के अनुसार दायधर्मानुसार परम्परा प्राप्त विशिष्ट प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति को 'चिति' कहा गया है।

दैशिक शास्त्र के अनुसार, ...चिति के द्वारा व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुख, जाति के सुख-दुखों से सम्बद्ध होते हैं। .....चाहे एक राजा हो और दूसरा रंक हो, उन दोनों की प्रवृत्ति, मानसिक अवस्था और सुख-दुःख समान पाये जायेंगे, चाहे एक को अनायास दिव्य भोजन मिलता हो और दूसरे को कष्ट से रूखा-सूखा अन्न प्राप्त हो, किन्तु इस भोजन भेद से उनकी प्रवृत्ति और मानसिक अवस्थाओं में कुछ भेद नहीं होता है।

दीनदयाल उपाध्याय जी ने 'चिति' को राष्ट्र के लिए, विशेषकर भारत राष्ट्र के संदर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनके अनुसार ''व्यक्ति की आत्मा के समान ही राष्ट्र की भी आत्मा होती है। इसी के परिणामस्वरूप राष्ट्र में एकात्मकता फूटती है। राष्ट्र की इस आत्मा को हमारे शास्त्रकारों ने 'चिति' कहा है।....'चिति' ही राष्ट्रत्व का द्योतक है। यही चिति जन समूह के देश विशेष पर रहने के कारण उसकी संस्कृति, साहित्य और धर्म में व्यक्त होती है। चिति की एकता ही समान परम्परा, इतिहास और सभ्यता का निर्माण करती है। अतः किसी भी राष्ट्र की एकता के कारण संस्कृति, सभ्यता, धर्म, भाषा, आदि की एकता नहीं, किन्तु ये तो मूल कारण चिति के व्यक्त परिणाम हैं।.....चिति के प्रकाश से ही राष्ट्र का अभ्युदय होता है और चिति के विनाश से राष्ट्र का अधःपात होता है।''[3]

दीनदयाल उपाध्याय जी आगे कहते हैं ''किसी भी राष्ट्र का अस्तित्व उसकी चिति के कारण होता है। चिति के ही कारण उदयावपात होता है।.....भारतीय राष्ट्र के भी उत्थान और पतन का वास्तविक कारण हमारी चिति का प्रकाश अथवा उसका अभाव है।.....प्राचीन काल से लेकर आज तक चली आने वाली राष्ट्र पुरुषों की परम्परा के भीतर छिपे सूत्र को यदि हम ढूढें तो संभवतया चिति के व्यक्त परिणाम की मीमांसा से उसके

1. राष्ट्र जीवन की दिशा (पुस्तक) 1971 (दीनदयाल उपाध्यायः सम्पूर्ण वाड्.मयः खण्ड पंद्रहःसम्पादक महेश चंद्र शर्मा)
2. दैशिक शास्त्र पुनः प्रकाशनः प्रकाशक पुनरुत्थान ट्रस्ट, 2007, अहमदाबाद, लेखकः बद्री शाह ठुलधरिया।
3. राष्ट्रधर्मः नवम्बर 28, 1947 (दीनदयाल उपाध्यायः खण्ड एकः सम्पादकः महेश चंद्र शर्मा)

अव्यक्त कारण की भी हमको अनुभूति हो सके। जिन महाविभूतियों के नाम स्मरण मात्र से हम अपने जीवन के दुर्बलता के क्षणों में शक्ति का अनुभव करते हैं। हमारा मस्तक श्रद्धा से किसके सामने नत होता है और क्यों?....राम हमारे आराध्य देव बनकर रहे हैं और रावण सदा से घृणा का पात्र बना है। क्यों? राम धर्म के रक्षक थे और रावण धर्म का विनाश करना चाहता था। .....धर्म के लिए श्रवण कुमार अपने माता पिता को कंधे पर लिए-लिए घूमा, धर्म के लिए प्रहलाद ने हिरण्यकश्यप का विरोध किया।''[1]

दीनदयाल जी ने विदेशी आक्रांताओं जैसे मुहम्मद गोरी और महमूद गजनवी का उदाहरण देकर व्याख्या की हैं कि उनका नाम सुनने मात्र से आक्रोश पैदा होता है। परन्तु जब हम गुरु गोविन्द सिंह, छत्रपति शिवाजी महाराज, महाराणा प्रताप का उल्लेख करते हैं तो लोगों का हृदय आदर, श्रद्धा व सम्मान से भर जाएगा। यानी राष्ट्र के रक्षक महापुरुषों के प्रति आदरभाव राष्ट्र के निर्माण का आधार है, जो कि 'चिति' की ही एक अभिव्यक्ति है।

'चिति' वह प्रकाश है, जिससे नीर व क्षीर में अन्तर करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। विभीषण रावण का भाई था। विभीषण ने रावण, जो कि उसका भाई था, उसका विरोध किया था, किन्तु हम विभीषण को जयचन्द व मीरजाफर का स्थान नहीं देते है। यही मापदण्ड राष्ट्र की चिर-जीवनी-शक्ति यानी 'चिति' है।

आखिर कौन सी ऐसी अदृश्य शक्ति हैं, जिसने काल के खण्डों में, अनेकानेक त्वरित प्रतिकूल परिवर्तनों के बाद भी राष्ट्र की विवेक-शक्ति को जीवित एवं प्रकाशित कर रखा है तो वह 'चिति' ही है।

'चिति' से जागृत और एकीकृत हुई समष्टि यानी मैक्रो (MACRO) की प्राकृतिक क्षात्र-शक्ति अर्थात् अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति विराट कही जाती है। बिना चिति व विराट के किसी राष्ट्र का अभ्युदय नहीं हो सकता है। 'चिति' और 'विराट' की धारणा जिस कर्म से होती है, वस्तुतः वही दैशिक धर्म है, न कि जड़ भूमि का प्रेम अथवा उसकी हितेच्छा। जो त्याग व्यक्ति समाज के लिए करने को उद्यत रहता है, परस्पर सहानुभूति का भाव, यही 'विराट', 'चिति' के प्रकाश से जागृत होता है।

विराट राष्ट्र का प्राण है तो चिति उसकी आत्मा है। जब चिति का प्रकाश, जन-जन में आलोकित होकर संगठित कार्यशक्ति 'विराट' से संचालित होती है तो इस लोक एवं पारलौकिक जीवन के सभी लक्ष्यों को प्राप्त करने में समर्थ बनकर खड़ा होता है, तभी वह संसार के समक्ष अजेय बनकर सामने आ सकता है। यही राष्ट्र-जीवन का सत्य है।

'दैशिक शास्त्र' में उल्लेख है कि चिति से जागृत और एकीभूत हुई समष्टि की प्राकृतिक क्षात्र-शक्ति अर्थात् अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति विराट कही जाती है। व्यष्टि में समाज के हितार्थ आत्मत्याग करने की प्रेरणा से परस्पर सहानुभूति का भाव होता है। समष्टि की रक्षा के लिए, यह एकीकृत शक्ति ही 'चिति' व 'विराट' को समझने का आधार है। राष्ट्र-जीवन के लिए 'चिति' व 'विराट' अनिवार्य हैं।

1. राष्ट्रधर्म' नवम्बर 16, 1948 (दीनदयाल सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड एक) सं. महेश चंद्र शर्मा

युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों भाई थे। दोनों ही राज्य के आकांक्षी थे, युधिष्ठिर सत्पथ से और दुर्योधन अनीतिपूर्वक। इसलिए, हम दुर्योधन से घृणा करते हैं तथा युधिष्ठिर के प्रति श्रद्धा रखते हैं।

दीनदयाल उपाध्याय जी राष्ट्र के 'परमवैभव' के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, उधार माँगी हुई सम्पन्नता या परिस्थितियों के दबाव में उठाये गये कदमों की प्रगति को औचित्यपूर्ण नहीं मानते। दीनदयाल उपाध्याय जी के शब्दों में- ''इसलिए इस प्रार्थना की ''परंवैभवंनेतुमेतत्स्वराष्ट्रम्'' वाली पंक्ति तब तक पूर्ण नहीं है, जब तक उसके पूर्व कही गयी पंक्ति ''विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिर'' और ''विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम्'' का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझ लेते। यानी राष्ट्र के परम वैभव पर ले जाने के लिए दो शर्तें हमारे सामने पूर्ण करने के लिए हैं, तब ही वह वैभव राष्ट्र का सच्चा वैभव सिद्ध होगा। पहली बात तो यह है कि वह वैभव हमारे अपने राष्ट्रीय पुरुषार्थ से प्राप्त होना चाहिए। इसके लिए सम्पूर्ण राष्ट्र की संगठित कार्यशक्ति होना जरूरी है। यह शर्त पूरी होगी, तो ही उस वैभव को हम राष्ट्र का सच्चा वैभव कह सकेंगे। साथ ही दूसरी बात यह कही गयी है कि संगठित कार्यशक्ति के द्वारा वैभव प्राप्त करने की यह सफलता धर्म का संरक्षण करते हुए होना चाहिए।

केवल संगठित शक्ति ही पर्याप्त नहीं है। चार चोर भी आपस में मजबूत संगठन बना सकते हैं। किन्तु वह संगठन न तो स्थायी होगा और न ही कल्याणकारी इसलिए यह जरूरी है कि धर्म का संरक्षण करते हुए 'संहता' यानी हमारी संगठित कार्यशक्ति 'विजेत्री' यानी विजयशालिनी हो।''[1]

दीनदयाल उपाध्याय जी, राष्ट्र के ऐसे कल्याण की कल्पना करते थे, जिनमें मूलभूत भारतीय जीवन-दर्शन, परम्पराओं, धर्म, आस्था, नैतिकता के आधार पर राष्ट्र का विकास व कल्याण हो। राष्ट्र-जीवन सबल, समर्थ व समृद्धिशाली हो, किन्तु अपने शाश्वत जीवन-मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए।

'चिति' का विचार हमारे मनीषियों की समृद्धिशाली विचार-सरणी का वह केन्द्र-बिन्दु हैं, जो राष्ट्र जीवन के लिए दीनदयाल उपाध्याय जी नितान्त आवश्यक समझते हैं।

*****

1. राष्ट्रजीवन की दिशा (पुस्तक) 1971 (दीनदयाल उपाध्यायः सम्पूर्ण वाड्मयः, खण्ड 15: सम्पादकः महेश चंद्र शर्मा)

राष्ट्र का 'विराट'

अशोक मेहता

आजादी मिले 70 साल हो गये और गणतंत्र को भी 26 जनवरी के दिन 68 साल हो गये। इस दुनियादारी, उठा-पटक के बीच क्या हम सभी ने कभी सोचा है कि हम कहाँ तक आ चुके हैं और किधर जा रहे हैं? 135 करोड़ देवी-देवताओं का यह देश कब पृथ्वी का स्वर्गलोक बनेगा? कैसे बनेगा? वह राह कौन सी है-हम नहीं जानते। भारत क्या चाहता है? मेरे देश के लिये कौन-सा रास्ता सही है, मैं नहीं जानता। मैं एक वकील हूँ। क्या मैं देश के नागरिकों को सहजता से न्याय दिला पाता हूँ? क्या मेरे देश के नियम कानून सरल हैं? क्या सभी को न्याय सुलभ है? सब जानते हैं न्याय त्वरित तो बिल्कुल नहीं है।

कहीं मेरी वकालत अन्य धन्धों की तरह ही नहीं है? (A Trade) क्या न्याय भी क्रय-विक्रय की चीज़ बन गयी है? (A Commodity), क्या मुकदमा लड़ने वाला बाज़ार जाने वाले खरीदार के बराबर नही है? (A Consumer), क्या यही बात शिक्षा ज्ञान, स्वास्थ्य आदि के लिये भी सच नहीं है? (Education & Health a Consumable Commodity) अजीब से प्रश्न हैं, लेकिन जवाब तो हमें ही ढूंढने होंगे।

हम तात्कालिक आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक सवालों में ही उलझ कर रह जाते हैं। लेकिन कभी सोचा है, इस तरह, इन तरीकों से हम कहाँ जा रहे हैं? जो हम पाना चाहते हैं, वह हम कब पायेंगे? क्या पिछले 70 सालों में हर नागरिक को हम रोटी, कपड़ा, मकान, पढ़ाई, दवाई, इन्साफ आदि, कम से कम जितना ज़रूरी है दिला पाए? क्या हर नागरिक को रोज़गार और संसार के सभी प्रकार के साधनों के दोहन (शोषण नहीं) करने का अवसर मिल पाया? क्या देश के संसाधनों के अनुसार कल कारखाने आगे बढ़े? क्या सभी तौर तरीकों में हमारी अपने सांस्कृतिक मूल्यों (Cultural Values) का ध्यान रखा गया? क्या देश और देश के हर नागरिक को वो सब साधन मिले जिससे वह अपने को, देश को और विश्व को आगे बढ़ाने में हिस्सा ले सके? यह कुछ मोटी-मोटी बातें है।

जब हम इतना भी नहीं कर पाये तो अगले कदम का तो सवाल ही नहीं है। हमारी दशा कैसी है और कहीं अपनी दिशा को लेकर भी उहापोह (Confusion) तो नहीं हैं? सबसे बड़ा सवाल है क्या हम सही माने में स्वतंत्र है? क्या हमारा आज का तरीका (System) हमारा अपना है? क्या हमारे देश के अनुकूल है? कहीं

1. वरिष्ठ अधिवक्ता-उच्च न्यायालय, इलाहाबाद, पूर्व अतिरिक्त महान्यायवादी, भारत सरकार

हम दिग्भ्रमित तो नहीं हैं? सोचिये 1918 में क्या था? यह 2018 है। 2118 में मेरा देश क्या होगा?

1918 से पहले विवेकानन्द ने सोचा। महात्मा ने सोचा-हिन्द स्वराज, महामना ने सोचा - Industrial & Education Development of India, S.N. Banerjee ने सोचा Nation in the making दादा भाई नौरोजी ने सोचा-Poverty and Un-British Rule in India, ए.सी. दत्त ने सोचा - Economic History of India, तिलक ने सोचा-गीता रहस्य तथा ''स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।''

लेकिन 1947 में नेहरू ने कुछ और सोचा - सोवियत कम्युनिस्ट सिस्टम। हम कहाँ आ गये? सोवियतरूस को खत्म हुए 25 साल से ज्यादा हो गये, जर्मनी की दीवार टूट गयी, येरूशलम को मान्यता मिल गयी, लेकिन हमारा अखण्ड स्वर्ग लोक भारत का सपना कब पूरा होगा? इस हाल में और इन तरीकों से क्या अगले 100 साल में भी पूरा कर पाएगा यह भी संदिग्ध है।

हमारी सारी कोशिशों में न उत्साह है, न आनन्द है और न सफलता है। कारण शायद यह है कि हमें पता ही नहीं हमें जाना कहाँ है। हर बिमारी की दवा एक नहीं होती और एक ही बिमारी की सभी जगह एक दवा नही होती। नीम-हकीम ही एक दवा से सब कुछ ठीक करने का दावा करते हैं। बाहर की हर बात सही है यह खुद में सही नहीं है, तो रूस, अमेरिका का हर तरीका (सिस्टम) हमारे लिये सहीं नहीं हो सकता और न ही उस पर चल कर हम आगे बढ़ सकते हैं। दूसरी तरफ बहुत सी ऐसी बाते है, जो पूरी दुनियाँ के लिये अच्छी हैं। उन सबको भारत वर्ष के लायक ढालना होगा और जो हमारे यहां चला आ रहा सच है उसे आज के लायक बनाना होगा।

भारत में हर दो कोस पर 'पानी' और पांच कोस पर 'बानी' बदलती है।फिर भी भारत का आचार-व्यवहार संस्कृति इसे एक बनाये रखता है। यह एक बिना जोड़ का ताना-बाना है (Seamless Web – Culture) जो पूरे भारत के हर कोने में मौजूद है और भारत की अपनी विशेषता है। भारत का समाज न रजिस्टर्ड सोसाइटी है न ज्वाइंट स्टाक कम्पनी और न क्लब। जैसे हम पैदा हुए है वैसे ही समाज भी पैदा हुआ। समाज की अपनी हस्ती है। समाज का अपना जीवन है। समूह का भी दिमाग (Group Psychology) होता है, यह सच आज सभी को स्वीकार है। समाज की भी आत्मा होती है और वह आस्था और विश्वास के साथ-साथ मान्यता के कारण आगे बढ़ती है।

इसका सबसे मजेदार किस्सा नाई के उस्तरे का हैः- ''मैं नाई के यहां दाढ़ी बनवाने गया। उसने कहा मेरा उस्तरा बाप दादा के जमाने का है। मैंने पूछा इसका छुरा (ब्लेड) कितने दिन में घिस जाता है? नाई बोला साल भर में। तब क्या करते हो? नाई बोला नया ब्लेड बदल देता हूँ। अच्छा इसका हत्था कितने दिन चल जाता है? बोला तीन-चार साल में हत्था बदल जाता है। जी हाँ, फिर भी यह नाई की मान्यता है कि उसका उस्तरा बाप दादा के समय का है।'' इसी तरह कभी छुरा बदला कभी हत्था पर उस्तरा बाप दादा के ज़माने का ही रहा। यह नाई की मान्यता है जो हमेशा बनी रही। इसी तरह हर आदमी की अनेक बातें बदल जाती है। वेश-

भूषा, भाषा, रहन-सहन, खानपान, फिर भी उसकी मान्यता बनी रहती है।

विराट

इसी तरह हमारे देश, राष्ट्र, समाज की भी मान्यता होती है, आस्था होती है, विश्वास होता है। इसका एक दार्शनिक/शास्त्रीय नाम है - चिति। यह 'चिति' भारत की सामूहिक चेतना है। देश में जो कुछ भी इस मान्यता (चिति) के अनुसार हुआ वह हमसे जुड़ता गया। हमारे संस्कृति का भाग बन गया और जो कुछ भी मान्यता के प्रतिकूल था व छूटता गया। यही मान्य और अमान्य का मापदण्ड है।

मैं कुछ शब्दों का यहाँ उपयोग करना चाहूँगा और उस पर आप सभी की प्रतिक्रिया अपने आप अवश्य होगी। पहला शब्द है 'माँ' दूसरा शब्द है ''विवाह''। विवाह से कुटुम्ब बना, यह समाज का बिम्ब है। कुटुम्ब को नियंत्रण दिया परिवार के ''कर्ता'' ने और गुरु ने संस्कार दिया हमारे समाज में अन्य शब्द है उत्सव एवं तीर्थ जिनका विशेष स्थान है।

माँ, विवाह, कुटुम्ब, कर्ता, गुरु, तीर्थ एवं उत्सव। यह हमारे समाज की संस्थाएँ है और उनकी अपनी मान्यताएँ है। माँ जननी है - मातृभूमि है (धरती माँ), भाषा है (वाक्), गऊमाता है एवं परा है (अम्बे माँ)।

मैंने भाषा की बात कही। भाषा माने वाक् शक्ति भी माँ का स्वरूप है। वाणी (सरस्वती) यह मौखिक है। श्रुति है इसी में लोक शक्ति है, यह भी सम्पदा है, परम्परा है, सनातन है। भारत इसी ज्ञान में बसता है। यहीं संस्कार है, यहीं संस्कृति है।

भारत बसता है चित्रकारी में, शिल्पी में, नाटक में, गायन, वादन, नृत्य में यही उत्सव है और तीर्थ वह स्थान है, जहाँ एकत्रीत करूणा है, पूज्य है। भारत राष्ट्र इस बोध को जानता है। यह यात्रा है - जीवन यात्रा।

हमारी अपनी भाषा का नष्ट होना लोक परम्परा एवं शक्ति का नष्ट होना है। हमारे समाज में सम्पदा अकूत है। हम पंचतत्व में विश्वास करते है - पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश। इस सम्पदा को संरक्षण चाहिए, संवर्धन चाहिए समाज को केवल इसका दोहन करना है शोषण नहीं। पंचतत्व का शोषण सृष्टि को विनाश की ओर ले जाता है। माँ का संवर्धन, संरक्षण ही माँ की पूजा है।

हमारा देश इन्हीं मान्यताओं पर खड़ा है। यही मान्यतायें हमारे व्यवहार में दिखती हैं। हमारा व्यवाहर ही हमारे व देश की मान्यताओं को देश की विशेषता बनाता है। यही मान्यतायें देश की जीवन शक्ति हैं, यही मान्यतायें देश की जीवन धारा हैं। देशवासियों की व्यवहार की ताकत देश की मान्यताओं को जगाती है, एक जुट करती है, और आगे बढ़ाती हैं। यह ताकत ही विराट है।

यह लेख बोलचाल की भाषा में देशवासियों को देश की रक्षा करने वाले शास्त्र के बारे में बताने हेतु लिखा गया है। 1921 में श्री बद्री साह ठुलधरिया की किताब दैशिक शास्त्र पहली बार छपी। इसी किताब के कुछ भाग को पढ़कर श्री बाल गंगाधर तिलक ने लिखा कि "I have read your 'Daisik Shastra' with

great pleasure. My view is entirely in accord with yours and I am glad to that it has been so forcibly put forward by you in Hindi." लेकिन किताब के छपने से पूर्व ही लोकमान्य का देहान्त हो गया और फिर यह पुस्तक बाल गंगाधर तिलक के स्मृतिरूप में प्रकाशित हुई, लेकिन आज़ादी की लड़ाई के बीच में इस विषय पर विचार न हो पाया। आज़ादी के बाद दर्शन के रूप में पूंजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद ही चर्चा में रहे और भौतिक आवश्यकताओं का ही विचार किया जाता रहा। आज से 50 वर्ष पूर्व पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने दैशिक शास्त्र पुस्तक के विषय को फिर से एक नया आयाम दिया और उसके आधार पर चिति एवं विराट की कल्पना को मानव दर्शन से जोड़कर बौद्धिक, आध्यात्मिक और भौतिक एकात्मकता का रूप दिया।

अब यह जरूरी है कि हम दैशिक शास्त्र विषय पर लिखें, पढ़ें और देश की रक्षा के सूत्रों को समझें। बद्री साह के अनुसार भी यह विषय केवल पुरातत्व जिज्ञासियों के मनोरंजन या विद्वद्विलास का नही है। आज पूरे देश में हिन्दुत्व का आभासिक विकास हो रहा है जिसे बुनियादी तौर पर स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी दशा एवं दिशा पर पूरा ध्यान दें और हम जो पाना चाहते है उस राह से भटके नहीं। यह बद्री साह एवं दीनदयाल जी के विषय -'विराट' को ही सरल भाषा में कहने का प्रयास है इसी भूमिका के साथ हम इन विषयों पर आगे बढ़ते है।

सुख

आदमी की हर कोशिश केवल सुख के लिए है। आदमी जो चाहता है, उसे जब पा लेता है तब जो महसूस होता है, उसे मानव सुख कहा जाता है। मानव बुद्धि की खुशी से जो सुख मिलता है, वह सात्विक होता है। मानव इंद्री और विषयों से मिलने वाला सुख राजसी है। प्रमाद से मिलने वाला सुख तमस है। मानव सुख के लिए सही रोजगार, मन की शान्ति, आज़ादी एवं स्वस्थ शक्तिशाली शरीर आवश्यक है। यह चारों चीजें समाज में भी होनी चाहिए। समाज से देश में होगी और तभी हर नागरिक को प्राप्त होगी। इसलिए देश एवं समाज में आज़ादी, शान्ति, रोजगार एवं पौरुष अत्यन्त आवश्यक है।

सामाजिक नियम

मानव तो सामाजिक है ही, लेकिन अनेक जानवर एवं कीड़े भी कुछ सामाजिक, प्राकृतिक नियमों का पालन करते हैं। यह पशु एवं कीट अपने सामाज के हित के अतिरिक्त और किसी बात का ध्यान ही नहीं रखते। कोई मधु भरता है, कोई मोम बनाता है, कोई केसर ढूंढने में मारा-मारा फिरता है। चींटी तक प्रकृति के सामाजिक नियम मानती है।

देश भक्ति

इसीलिए यह प्राकृति का नियम है कि मनुष्य अपने सामाज एवं देश के लिए प्रकृति के नियमों का पालन करें और अपना कर्म पूरा करें। यह कर्म और नियमों का पालन ही देशभक्ति का सुख देते हैं। इस प्रकृति

एवं सामाजिक नियमों के पालन में बार-बार लोभ एवं भय का सामाना करना पड़ता है और उस समय आपका अपने को नियमबद्ध रखना, बुद्धि ठीक रखना और संकल्प से बढ़ना ही मदद करता है। समाज की भलाई के लिए हर आदमी को अपना लालच छोड़ना होगा तभी देश सुख से भर सकता है। आज भी सवाल है कि आदमी को समाज की भलाई के लिए अपनी भलाई को छोड़ना यह मानसिकता कैसे पैदा हो।

विराट का जागरण

समाज के जागरण से पहले विराट का जागरण होता है। विराट का जागरण चिति के प्रकाश में होता है। चिति के द्वारा ही आदमी के सुख-दुख समाज के सुख-दुख से जुड़ते हैं। बुरे दिनों में भी अपने समाज के गुणों को बचाना सदाचार और सदव्यवहार वालों का अधिक होना, बुरे समय में प्रतिरोध की शक्ति का रखना, अच्छे और बुरे समय में भी चिति का न बदलना, यह दैवी चिति की विशेषता है और ऐसी चिति श्रेष्ठ सुख वाली होती है। यह तभी हो सकता है जब चिति की रोशनी में विराट का जागरण हो। चिति का विराट से, विराट का समाज से, समाज का आदमी से वही सम्बन्ध है जो जीवन का प्राण से, प्राण का शरीर से और शरीर का अंग से होता है। जैसे बिना जीवन और प्राण के ठीक रहे शरीर ठीक नहीं रह सकता और शरीर के ठीक रहे बिना उसका कोई भी अंग सुखी नहीं रह सकता उसी तरह बिना चिति के प्रकाश और विराट के जागरण के समाज का भला नहीं हो सकता और बिना समाज का भला हुये व्यक्ति का भला नहीं हो सकता।

मनुष्य में इच्छायें कभी नहीं मरतीं, हमेशा बढ़ती ही रहती हैं, कभी शांत नहीं होतीं। अपने चिति और विराट को आगे बढ़ाकर देश की रक्षा का धर्म निभाते हुए बिना किसी को नुकसान पहुँचाये अपना हित बढ़ाना और इसमें आयी हुई रुकावटों को हटाना हमारा प्राकृतिक हित कहलाता है। आज़ादी उस अवस्था को कहते है जब अपना हित किसी के हाथ में न होकर सर्वत्र और सर्वथा अपने हाथ में हो और मनुष्य प्राकृतिक हित के अनुसार आगे बढ़ें। इस प्रकृति ने मनुष्य को सामाजिक जीव बनाया है, अर्थात् ऐसा जीव जो अकेले नहीं रह सकता, बिना एक साथ रहे उसका निर्वाहन नहीं हो सकता।

विराट के कमज़ोर होने पर, देशवासियों की व्यवहार की ताकत कम होती है, मान्यतायें अपना स्थान खोती हैं। वैसे-वैसे राज्य व्यूह में, व्यूह संघ में, और संघ अव्यवस्थित समाज में बदलने लगता है। अंत में राज्य अपने लम्बे व्यवहारिक संस्कार के कारण, लट्टू/चकरी की तरह अपने स्वयं के वेग में चलता रहता है, लेकिन अपने कर्म को तो छोड़ ही देता है।

इस समय पर ही यह विराट जागता है और संघ रूप में प्रकट होता है। इन्हीं संघों के मिलने से व्यूह बनता है और अन्त में व्यूह भ्रष्टता को हटाकर नवीन को स्थापित करता है।

स्वतंत्रता

मानव की आज़ादी के शासकीय, आर्थिक और स्वाभाविक तीन अंग है। राजा का प्रजा के प्राकृतिक हित में किसी तरह का हस्तक्षेप न करना और हमेशा उस हित के अनुकूल रहना शासकीय आज़ादी है। मनुष्य

के प्राकृतिक हित में किसी भी तरह की आर्थिक रुकावट न डालना भी आज़ादी का भाग है तथा जो काम प्राकृतिक हित के विपरीत न हो, उस काम को करने में किसी प्रकार की रुकावट न डालना स्वाभाविक आज़ादी है। यह तीनों स्वतंत्रता आपस में एक दूसरे से उसी तरह जुड़ी हैं, जैसे आकाश, वायु, जल, पृथ्वी एवं अग्नि। शासकीय स्वत्रंता सरकार की आज़ादी मनुष्य व समाज की शक्ति व पुरुषार्थ की प्राण है। जैसे प्राण के न रहने पर सारा शरीर बेकार लाश है, वैसे ही सरकार की आज़ादी के बिना और सभी आज़ादी बेकार है। पराये शासन में आज़ादी का सवाल ही नहीं उठता और ऐसा शासन अस्वाभाविक और प्रतिकूल है।

स्वराज्य

स्वराज्य दश प्रकार का होता हैः- (1) ब्राह्म (2) आर्ष (3) प्राजापत्य (4) दैव (5) मानव (6) आसुर (7) याक्ष (8) राक्षस (9) पैशाच (10) मानव।

केवल सामाजिक व्यावहारिक समता बनाये रखने के लिये समाज का केन्द्र माना हुआ दक्ष समुदाय का शासन ब्रह्म राज्य में होता है। इसमें सोलह कलायें विराजमान, महासंकल्प शक्ति, सबकी तृप्ति व आलौकिक शक्ति छायी रहती है। सभी ओर परस्पर प्रेम होता है।

आर्ष राज्य में विराट कहीं-कहीं कमज़ोर होता है। समभाव क्षीण होता है, तब मृदुल नित्य शासन की आवश्यकता होती है। शक्ति पूजा की तैयारी का समय होता है।

प्रजापत्य राज्य से विराट टूटने लगता है। समभाव में विषमता शुरू होती है। लोगों में छोटे- बड़े का भाव आ जाता है। विशेष गुण वाले जन समुदाय का चयन होता है। नेता बनने लगते हैं। देश की रक्षा चर्चा का विषय बनता है।

दैव राज्य में विराट की कड़ी कमज़ोर पड़ती है। विषम भाव बढ़ता है। राजस प्रकट होता है। समाज जटिल होता है। नेतृत्व के बदले शासक की ज़रूरत होती है। घर-घर शस्त्र पूजन होता है।

मानव राज्य में कहीं-कहीं विराट का लोप होता है। तमस भी दिखने लगता है। विषम भाव, जटिल, सम्पत्ति का प्रवेश, विलासता, दुर्गा पूजा की जगह लक्ष्मी पूजन। प्रजानुकूल शासक।

विराट का प्रभाव एकदम ढीला। अर्थ के अनुसार छोटा-बड़ा कठोर शासन आसुर राज्य है।

विराट के कई केन्द्र बन जाते हैं। आसुरी सम्पदा अत्यन्त विषम। राज्य छोटा-बड़ा बनाता है। ऐसे याक्ष राज्य में बुद्धि भ्रष्ट राज्य दुर्बल हो जाता है। नेतृत्व आसुरी और प्रजा दुखी होती है। ऐसे में देश में विदेशियों की तूतियाँ सुनाई देने लगती हैं।

विराट बेहोशी की स्थिति में पूरा तमस से आच्छादित असहनीय दुख एवं विस्फोटक स्थिति। राक्षस राज्य ऐसा ही होता है।

पैशाच राज्य में विराट लुप्त, मूर्ख, सम्पदा की क्षमता से युक्त, उत्पाती उपद्रवी का मान, तमस परमस्वार्थी कुटिल नीति। किसी को दुखी देखकर सुखी। पराये अच्छे लगने लगे।

विराट पूरी तरह अन्तर्धान, पाश्वी समृद्ध पाश्व राज्य, नीच स्वार्थी विषयभोगी अनेक संघों में विभक्त समाज, पशुबुद्धि राज्य पाश्व है।

समाज में अनुकूल वातावरण हो तथा जो विराट शक्ति इस प्रकृति ने हम सभी को दी है, उसका जागरण हो तभी आज़ादी पाने का हर प्रयास सफल होगा। जब समाज में अच्छे मूल्य व गुण ज्यादा होते हैं और कोई भी किसी का भी बुरा नहीं चाहता है, तब तक वह प्राकृतिक विराट शक्ति बिना किसी रूकावट के अपना कार्य करती और देश आगे बढ़ता है, लेकिन जिस समय समाज इनके प्रतिकूल होता है, तब यह विराट शक्ति उन गुणों को एक पर्दे से ढक देती है, जिससे वह सुरक्षित रहे, बची रहे।

जैसे-जैसे समाज में जटिलता आती है, वैसे-वैसे व्यावहारिक शक्ति की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इस शक्ति को ही राज्य कहते है। जब इस शक्ति की जरूरत समाज में बहुत थोड़ी होती है, तो वह व्यूह कहलाता है। आवश्यकता बढ़ने पर संघ कहलाता है। इन सबका मूल विराट ही है। जैसे-जैसे समाज में विराट प्रबल रहता है, बढ़ता है वैसे-वैसे समाज संघ में, संघ व्यूह की ओर तथा व्यूह राज्य में बदलता जाता है।

ऊपर बताये गये राज्यों में पहले पाँच भद्र राज्य है और बाद के पाँच भ्रष्ट। भद्र राज्य मानव समाज की उन्नति दिखाते हैं और भ्रष्ट अवनति।

भद्र राज्य में प्रजा के सुख-दुख से राजा का सुख-दुख होता है। शासक प्रजानुकूल होता है, उसकी नीति सरल होता है। प्रजा में कोई डर नहीं रहता हर तरफ श्रद्धा, संतोष और विश्वास दिखता है।

शासन व्यवस्था एवं नियम

व्यवस्था एवं शासन नियम के विषय में बद्री साह कहते हैं कि नियम सदा बुद्धिसंगत, सरल, अल्पसंख्यक, वस्तुमूलक, अपरिग्रही, विरलदण्ड, समदर्शी और मूलानुसारी होते हैं, जिन नियमों में ये विशेषता नहीं होती हैं वे व्यवस्थाधर्म नहीं हो सकते हैं क्योंकिः-

समाज में व्यवस्थाधर्म के अनुसार चलना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होता है। शासक का कर्तव्य होता है, व्यवस्थाधर्म का उल्लंघन करने वाले से प्रायश्चित् करवाना अथवा उसको दण्ड देना। किन्तु न जानी हुई बात के अनुसार कोई चल नहीं सकता है और अज्ञात बात के कारण दण्ड भोगना और देना दोनों अस्वाभाविक और अधर्म होते हैं, अतः सबको व्यवस्थाधर्म का ज्ञान होना आवश्यक है, किन्तु जो नियम बुद्धिसंगत नहीं होते हैं अथवा जटिल होते हैं उनका ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को नहीं हो सकता है और न किसी की उनमें श्रद्धा होती हैः जो नियम बहुसंख्यक होते हैं उनमें न प्रत्येक मनुष्य की गति होती है और न सबको उनकी स्मृति रहती है, अतः ऐसे दुर्गम और दुःस्मरणीय नियमों से समाज कभी सुपरिचित नहीं हो सकता। जिस बात में विद्वद्विलास होता है वह साधारण बुद्धि वाले, लोगों की समझ से बाहर हो जाती है तथा जो बात अवस्तुमूलक होती है भली-भांति उसको समझना तथा ग्रहण करना सारे समाज के लिए तो क्या विशेष व्यक्ति के लिए भी सम्भव नहीं होता है। जिन नियमों को लोग न जानते हैं, न उनसे परिचित होते हैं, न उनको समझते हैं, न उनमें श्रद्धा रखते हैं, न

उनको ग्रहण करते हैं उन नियमों के अनुसार वे चल नहीं सकते हैं। अतः ऐसे नियमों के अनुसार लोगों को चलाने के लिए समाज में दण्ड द्वारा त्रास फैलाना पड़ता है, इस प्रकार त्रास से चलाए जाने वाले नियम आसुर नियम कहे जाते हैं, ऐसे नियमों से बनी हुई शक्ति क्षणभंगुर और अनर्थकारिणी होती है।

एक मत, समान विषय को मानने वाला, समान मान्यता वाला समाज ही देशवासी होता है। समय, देश, काल के अनुसार से व्यवहारिक रीतियाँ बनती है, लेकिन इस संसार में रीतियाँ सभी जगह एक समान नहीं होती हैं। भाषा, वेशभूषा, रहन-सहन, खान-पान, देशकाल समयानुसार बदल सकता है।

इसीलिए यह प्राकृतिक सामाजिक नियम है कि मनुष्य अपने सामाज एवं देश के लिए प्रकृति के नियमों का पालन करें और अपना कर्म पूरा करें। इन कर्म और नियमों का पालन ही देशभक्ति का सुख देते है। इस प्रकृति एवं सामाजिक नियमों के पालन में बार-बार लोभ एवं भय का सामाना करना पड़ता है और उस समय आपका अपने को नियमबद्ध रखना, बुद्धि ठीक रखना और संकल्प से बढ़ना ही मदद करता है।

*****

राष्ट्र की भारतीय अवधारणा : दीनदयाल उपाध्याय के संदर्भ में

अजय कुमार शाह[1]

'हर राष्ट्र के जीवन में एक प्रधान तत्व हुआ करता हैं , अन्य सब तत्व उसी में केन्द्रित होते हैं भारत का तत्व हैं 'धर्म'[2] (स्वामी विवेकानंद)[3]

राष्ट्र की अवधारणा के स्वरूप को आधुनिक भारतीय चिंतकों के साथ-साथ योरोप के आधुनिक राजनीतिक चिंतको ने भी बहुत अधिक तक प्रभावित किया है! पाश्चात्य विचारकों ने भाषाई या भगौलिक स्वरूप से राष्ट्र को विश्लेषित व परिभाषित किया है, वहीं दीनदयाल उपाध्याय ने भारतीय संस्कृति, इतिहास और दर्शन को समाहित कर के अपने राष्ट्र की अवधारणा को निरूपित किया है। प्रस्तुत लेख में 'भारतीय चिंतन मे राष्ट्र की अवधारणा : दीनदयाल उपाध्याय के संदर्भ में' में राष्ट्र के वैचारिक स्वरूप के साथ संरचनात्मक स्वरूप का भी वर्णन है। केवल भूमि और उस भूमि पर रहने वाले लोग से राष्ट्र का स्वरूप निर्धारित नहीं होता है, बल्कि राष्ट्र की एकता के लिए एक भावनात्मक जुड़ाव भी बहुत महत्वपूर्ण होता हैं, जो एका-एक नहीं बनता बल्कि इसके बनने का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आधार होता हैं, जिसे दीनदयाल उपाध्याय ने भारतीय राष्ट्र की चिति[4] कहा है, जो राष्ट्र की आत्मा स्वरूप जीवनदायनी है, इसके बिना राष्ट्र का स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा।

राष्ट्र क्या हैं ?

पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने राष्ट्र को भावात्मक जुड़ाव के रूप में परिभाषित किया है। उनके विचार से यह मानना की केवल भूमि और उस भूमि पर रहने वाले लोगों से राष्ट्र का स्वरूप निर्धारित होता हैं यह गलत अवधारणा है। बल्कि यह सिर्फ प्रादेशिक राष्ट्र की कल्पना है, जो राष्ट्र के लिए घातक साबित होती है। और

1. शोधार्थी, राजनीतिक विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

2. धर्म का अभिप्राय 'रिलीजन' नहीं। रिलीजन विशेष आचार, कर्मकांड और उपासना पद्धति वाले गुटों को कहा जाता हैं। धर्म उन बातों, शक्तियों, भावनाओं, व्यवस्थाओं तथा नियम को कहते हैं जो समाज को धारण करते हैं, वही धर्म हैं। अतः शरीर मन बुद्धि तथा आत्मा से युक्त मानव की धारणा कर सकने वाली शक्ति, उसे धर्म कहा गया हैं।
3. जैन,पुखराज- भारतीय राजनीतिक विचारक. दिल्ली : साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2002.
4. चिति किसी समाज की वह प्रकृति हैं जो जन्मजात और मापदंड है। जिसमें हर वस्तु को मान्य अथवा अमान्य किया जाता है, यही राष्ट्र की आत्मा व चेतना हैं इसी आधार पर राष्ट्र खड़ा होता है।

भारत के लिए हुआ भी है।[1] दीनदयाल जी भूमि को राष्ट्र का आवश्यक तत्व मानते थे, क्योकि इसी से राष्ट्र की नीव की शुरुआत होती है। इतिहास गवाह हैं की किसी भी ख़ानाबदोश लोगो का अपना कोई राष्ट्र नहीं है, इसलिए स्थायी आबादी का सीमाओं में बंध जाना राष्ट्र की प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है, परंतु इससे भी प्रमुख भावनात्मक जुड़ाव है। दीनदयाल जी राष्ट्र का भावनात्मक रूप से जुड़ा होना बहुत आवश्यक मानते थे। इस भावनात्मक जुड़ाव का आधार संस्कृति हैं, जो लोगो के जीवनभूत अंगो में से एक हैं। यही संस्कृति वह आधार है जो राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने के साथ-साथ राष्ट्र के सम्पूर्ण शरीर में प्राणों के समान संचार करती है। यही संस्कृति राष्ट्र के लोगों में 'मैं' के वास्तविक अर्थ को गुंजित करती है, और इसे जीवमान इकाई के स्वरूप में बनाए रखती है। अतः राष्ट्र वह भू-भाग है जिसमें समान संस्कृति के लोग रहते हैं, वह उस भू-भाग और उसके अतीत से जुड़ाव महसूस करते हैं, साथ ही भौतिक और राजनीतिक एकीकरण के अलावा मानसिक और भावनात्मक लगाव की अनुभूति भी करते हैं।

जन(व्यक्ति) राष्ट्र का उपकरण

बिना जन के राष्ट्र का विचार करना असंभव हैं, जन किसी राष्ट्र की उस शक्ति के रूप में होता है जो किसी राष्ट्र के स्वरूप व आत्मा को प्रकट करता है। व्यक्ति रूपी समाज से राष्ट्र व मानवता का विकास होता हैं। दीनदयाल जी ने अपने दर्शन में व्यक्ति को ही केंद्र में रख कर अपने राष्ट्र के स्वरूप का विवेचन किया है। मानव किसी अवसर या स्थान पर अपने व्यक्तित्व के अलाव अपने राष्ट्र का भी प्रतिनिधित्व करता है। जन राष्ट्र के लिए उपकरण है, क्योंकि राष्ट्र की जितनी भी नीति या संस्था बनती हैं उसका उपकरण जन ही होता है। यही जन राष्ट्र को सशक्त करता है और यही राष्ट्र को ध्वस्त कर देता है, इसलिए हम यह कह सकते हैं की जन का उपकरण राष्ट्र है राष्ट्र का उपकरण जन है।

एकात्म मानववाद दर्शन

दीनदयाल उपाध्याय ने 'मानव कल्याण के लिए एकात्म मानववाद के रूप में मौलिक जीवन दर्शन की स्थापना की। एकात्म मानववाद एक समन्वयकारी जीवन दर्शन है, जिसमें मानव जीवन के सभी पक्षों का सामंजस्य करके जीवन की समग्र संपन्नता एवं भव्यता का मार्ग प्रशस्त किया गया है। दीनदयाल उपाध्याय का यह जीवन दर्शन उनके मौलिक चिंतन एवम अनुसंधन की सूचना दृष्टि का परिचायक है।[2] उनका विचार यही

1. जब भारत में स्वतन्त्रता आंदोलन चल रहा था तब इसी प्रादेशिक राष्ट्र के मानसिकता से राष्ट्रवादी आंदोलन चलते रहे हिन्दू-मुस्लिम एकता के कई प्रयास किए गए परंतु इसमें भावात्मक अंश का जुड़ाव नहीं था, जिस कारण भारत के दो टुकड़े हो गए, इसलिए प्रादेशिक राष्ट्र की भावना राष्ट्र के लिए घातक हो सकता है। और देखे चंद्रशेखर, प्रमानन्द भिषीकर, पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-5, राष्ट्र की अवधारणा, 3, एडिशन, सुरुचि प्रकाशन, न्यू दिल्ली 2014, पृष्ट संख्या-3
2. कमल-किशोर गोयनका, पंडित दीनदयाल उपाधायाय व्यक्ति दर्शन,नई दिल्ली, दीनदयाल शोध संस्थान-1992 नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या देखे-158

दर्शता है कि समाज के सबसे निचले पायदान पर खड़े व्यक्ति का विकास व उन्नयन करने से ही समाज, राष्ट्र में मानवता का उत्थान होगा। मनुष्य केवल शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए पैदा नहीं हुआ बल्कि उनके सम्मुख एक जीवन लक्ष्य होता है, और उसे प्राप्त करने के लिए उसे शरीर के साथ, मन, बुद्धि, एवं आत्मा की भी आवश्यकता होती है, इसी से लक्ष्य साध्य करने में ही मानव जीवन की सार्थकता है, और यह भारतीय संस्कृति की सीख है। दीनदयाल उपाध्याय अपने विचारो में मानव जीवन के संपूर्ण प्रकृति के साथ एकात्म संबंधों को बताते हैं, जो मानव जीवन के और प्रकृति की विविधता में आंतरिक एकता के विभिन्न रूपों को अभिव्यक्त करती है, इन सब में पारस्परिक अनुकूलता और पूरकता प्रदर्शित करती है। एकात्म मानववाद में दीनदयाल उपाध्याय ने मानव जीवन के सभी अंगों को ध्यान में रखते हुए विचार किया कि मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का संकलित रूप है, इसलिए मानव का सर्वांगीण विकास इसी में संकलित है। इस विकास में भौतिक प्रगति के साथ-साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति भी अभिप्रेत है, इसी से सुयोग्य समाज, राष्ट्र व मानवता की धारणा हो सकेगी। एकात्म जीवन के संबंध में भारतीय संस्कृति की इस धारणा को हम इस आकृति द्वारा समझ सकते हैं। एकात्म मानववाद दर्शन को हम अखंड मंडलाकार के आकृति के माध्यम से समझते हैं-

Source : विनायक वसुदेव नेने, पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, एकात्म मानव दर्शन, 3 एडिशन, सुरुचि प्रकाशन, न्यू दिल्ली 2014, पृष्ठ संख्या देखें-133

इस आकृति के अनुसार 'प्रत्येक मंडल उसके आगे तथा पीछे के मंडल से संबंध रख कर ही विकसित होता हैं। इस रचना का प्रारंभ व्यक्ति से होता हैं, किंतु व्यक्ति केवल भौतिक सुख या अर्थ व काम के पीछे न रहकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के साथ समग्र और सर्वांगीण जीवन का विचार करने वाला होता है। साथ ही इन पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहता है। व्यक्ति के बाद अगला मंडल

परिवार का हैं। परिवार का मंडल व्यक्ति से प्रारंभ होता हैं, किंतु उसका संबंध नहीं छोड़ते हुए उसके चारों और विकसित होता हुआ आगे बढ़ता है और जाति (समुदाय) मंडल का सूत्रपात करता हैं। जाति मंडल विकसित होकर आगे चलकर राष्ट्र मंडल में परिणत होता है और इसी क्रम में आगे बढ़ता हुआ संपूर्ण मानव समूह तथा विश्व का मंडल तैयार होता है।[1] इस प्रकार राष्ट्र का विकास किसी भी एक आयाम से नहीं बल्कि सभी आयामों को लेकर निर्माण होता है। इस अखंड मंडलाकार में राष्ट्र के बनाने की प्रकिया में किसी भी मण्डल को एक-एक करके विकसित ना कर एकात्मता के साथ विकसित होता है, जिससे राष्ट्र स्वरूप में मानवता का विकास होता है। इस प्रकार दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानव दर्शन में राष्ट्र के प्रति देशभक्ति व मानवता की सेवा में कहीं कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जो व्यक्ति अपने राष्ट्र की सेवा नहीं कर पाएगा वह मानवता की क्या सेवा करेगा। मानवता की सेवा के लिए राष्ट्र भक्ति पहले सोपान पर है, क्योकि राष्ट्र ही मानवता के गुण रूप का विकास करेगा और मानवता के लिए उन्मुख करेगा। इस एकात्म रूपी राष्ट्र के बनाने की प्रक्रिया में कई मूलभूत तत्व की आवश्यकता होती है जिसकी आगे वर्णन व विश्लेषण है।

राष्ट्र की आत्मा- चिति

किसी भी व्यक्ति, वस्तु, स्थान को समझने के लिए पहले उसके मूल तत्व का पहचान करने से उसकी उचित पहचान सामने आती है, इसी प्रकार किसी राष्ट्र को समझने से पहले हमें उस राष्ट्र के मूलतत्व को समझना होगा न की सरसरी दृष्टि से जैसा आजकल किया जाता हैं।[2] दीनदयाल उपाध्याय ने बताया कि 'राष्ट्र' के प्रति भक्ति तथा अपने राष्ट्र के जनसमूह के प्रति सहानुभूति की भावना का मूल कारण न तो हमारी स्वार्थों की एकता है और न समान शत्रुतत्व या मित्रत्व। देशभक्ति तो अपने राष्ट्र के सम्पूर्ण जन-मानस के प्रति एक ममत्व की भावना के कारण है, जो की एकात्मता का परिणाम है। व्यक्ति के आत्मा के समान ही राष्ट्र की भी आत्मा होती है। इसी के परिणाम स्वरूप राष्ट्र में एकात्मता फूटती है। राष्ट्र की इस आत्मा को हमारे शस्त्रकारों ने 'चिति' कहा है।[3] और राष्ट्र चिंतन करते समय दीनदयाल उपाध्याय ने इसी संज्ञा को स्वीकार कर अपने दर्शन में इसका उपयोग किया। दीनदयाल उपाध्याय कहते हैं की चिति क्या हैं? इसका स्वरूप कैसा हैं? इसकी व्याख्या करना बहुत कठिन है। हम इसे खुद देख सकते हैं। मग्डूगल के अनुसार समूह की कोई मूल प्रकृति होती है। वैसे ही चिति समाज की वह मूल प्रकृति हैं जो जन्मजात हैं जो ऐतिहासिक कारणों से नहीं बनी है। चिति तो मूलभूत होती है। चिति को लेकर हर एक समाज पैदा होता है और उस समाज की सांस्कृति की दिशा

1. विनायक वसुदेव नेने, पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, भाग-2, एकात्म मानव दर्शन, 3 एडिशन, सुरुचि प्रकाशन, न्यू दिल्ली 2014, पृष्ठ संख्या देखें,132.
2. आज कल किया जाता से तात्पर्य हैं कि आजकल राष्ट्र के स्वरूप को भौतिक दृष्टि से परिभाषित करने से हैं जो बाहरी रूप से दिखता है, परंतु यह भौतिकता राष्ट्र के आंतरिक स्वरूप को नहीं देखपाती।
3. महेश-चंद्र शर्मा, दीनदयाल उपाध्याय सम्पूर्ण वड्मयः खंड एक, दिल्ली, प्रभात प्रकाशन,2016, पृष्ठ 118

चिति निर्धारित करती हैं।[1] चिति ही राष्ट्रतत्व की द्योतक होती है, क्योंकि समाज का स्वभाव जिस प्रकार का होगा राष्ट्र का स्वरूप भी उसी तरह का दिखेगा। चिति ही राष्ट्र की आधार होती है, यही राष्ट्र को श्रेष्ठ बनाती है, इसी से व्यक्ति के स्वभाव व आचरण प्रकट होता है।

भारत के लिए राष्ट्र शब्द का उचारण सौ- दो सौ सालों से उपयोग में नहीं किया जा रहा है बल्कि चीरकाल से भारत का राष्ट्र के रूप में प्रचुर प्रयोग होता आया है। क्योंकि राष्ट्र का निर्माण चिति के साथ ही होता है इसी के अनुरूप चिति राष्ट्रीय चेतना का कार्य भी करती है। चिति के क्षरण हो जाने से राष्ट्र कमजोर होने लागता है अगर चिति का पूरी तरह लोप हो गया तो फिर राष्ट्र का भी लोप हो जाता है। लोप हो जाने पर राष्ट्र खत्म हो जाता है, क्योंकि किसी शरीर की आत्मा ही चली जाए तो शरीर अमूमन नष्ट हो जाता है। ऊसी प्रकार चिति रूपी आत्मा राष्ट्र से नष्ट हो जाती है तो राष्ट्र भी नष्ट हो जाता है।

प्रत्येक राष्ट्र अपने चिति के अनुसार ही अपना जीवन लक्ष्य चुनता व बनाता है। इतिहास में देखें तो पाएंगे कि कुछ राष्ट्र नष्ट हो गए, जैसे-ईरान, मिस्र, और यूनान। प्रश्न यह उठता हैं की यह इतने समृद्ध राष्ट्र नष्ट क्यों हो गए, और क्या अब वहाँ लोग नहीं रहते? लोग रहते हैं परंतु लोगों की जीवन-पद्धति अलग है। भिन्न प्रकार के चिति वाले लोग वहाँ रहते हैं। उस प्राचीनता के साथ एकता का कोई आंतरिक सूत्र शेष नहीं हैं जो अस्मिता का दर्शन कराये। एक उदाहरण के रूप में समझें कि जैसे मनुष्य का शरीर प्राकृतिक रूप से समयानुसार परिवर्तित होता रहता है। वह छोटा रहता है, फिर बड़ा बनता है और बाद में बूढ़ा हो जाता है। इन सभी अवस्थाओं से गुज़र जाने के बाद मनुष्य की मांसपेसियों में परिवर्तन होता है फिर भी मनुष्य वही रहता है, क्योंकि उसके अंदर की अस्मिता रूपी आत्म तत्व जीवित रहती है। कुछ इसी प्रकार राष्ट्र की भी चिति रूपी अस्मिता होती है, जो समूहिक प्रवृति के साथ राष्ट्र के सातत्य को बनाए रखती है। चिति का विराट रूप ही राष्ट्र का प्रतीक है।

राज्य और राष्ट्र एक नहीं

आजकल एक वैचारिक संभ्रम है 'राज्य' और 'राष्ट्र' को लोग एक समानार्थी समझते हैं! क्या वास्तव में ऐसा है? वस्तुतः यह दोनों अलग-अलग हैं, जिसमें राज्य राष्ट्र की केवल एक महत्वपूर्ण संस्था है, लेकिन सर्वोपरि संस्था नहीं। परंतु आज सबसे मूल समस्या यही है कि राज्य को सबसे सर्वोपरि संस्था मान लिया गया है या राज्य ने अपने आप को इतना प्रभावी बना लिया है कि सम्पूर्ण शक्ति उसमें केन्द्रित हो गयी है और उसका एकाधिकार बढ़ता जा रहा है। आज ऐसी धारणा बना दी गए है, परन्तु वास्तव मे ऐसा नहीं है कि राज्य ही सबसे अधिक सर्वोपरि संस्था रही हो, पहले कितने राज्य नष्ट हो गए परंतु राष्ट्र तो नष्ट नहीं हुआ। दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार 'राजनीतिक दृष्टि से दिल्ली के सिंहासन के ऊपर कभी पठान बैठे, कभी तुर्क, कभी मुगल

1. कमल किशोर गोयनका, पंडित दीनदयाल उपाधायाय व्यक्ति दर्शन, नई दिल्ली, दीनदयाल शोध संस्थान, 1992 नई दिल्ली, पृष्ट संख्या देखे-162.

बैठे, कभी अंग्रेज़ बैठे, किन्तु इसके बाद भी हमारा राष्ट्र जीवित रहा,क्योंकि हमारे जीवन का केंद्र राज्य नहीं था। अगर राज्य को जीवन का केंद्र मानकर चलें होते तो हम भी कब का समाप्त हो गए होते। जैसे पुराने समय की बहुत सी कहावतों में आता हैं की कोई राक्षस था, उसके प्राण किसी तोते के अंदर थे, इसलिए राक्षस को मारने के लिए तोते की गर्दन मरोड़ दी और राक्षस का अंत हो गया। उसी प्रकार से जिन लोगों के प्राण राज्य में थे, वहां राज्य के नष्ट होते ही राष्ट्र के प्राण भी निःशेष हो गए। जिन राष्ट्रो ने यह माना, जैसे हमने माना की हमारा प्राण राज्य में नहीं है , वहाँ राज्य जाने के बाद भी राष्ट्र नहीं गया।[1] राज्य का स्वरूप अस्थिर रहता है राष्ट्र का स्वरूप राज्य जैसा अस्थिर नहीं रहता, बल्कि राष्ट्र एक जीवमान इकाई है, जिसका कालखंडो से विकास होता रहता है और पीढ़ी दर पीढ़ी इसका स्वरूप बदलता रहता है, जब तक इसमें उसकी अस्मिता व भावात्मक स्वरूप बना रहता हैं राष्ट्र जीवित रहता है, जब यह क्षीण हो जाता हैं तो राष्ट्र भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार राष्ट्र एक स्थायी सत्य है, जिसको पूर्ण करने के लिए राज्य का निर्माण किया गया है। दीनदयाल जी राज्य के महत्व को कम नहीं समझते, क्योंकि राज्य के राष्ट्र की सुरक्षा, अभिवृद्धि करना, राष्ट्र के आवश्यकता अनुसार निर्णय लेकर विश्व से संबंध बनाना, राष्ट्र शक्ति को मजबूत करने के लिए अथक प्रयास करना आदि कई कार्य हैं।

भले ही राज्य के अस्तित्व पर विवाद हो सकता हैं की वह अभी कुछ शताब्दी की बात हो परंतु राष्ट्र का स्वरूप भारत में सतयुग से चलता आ रहा है, जब राज्य भले ही न था परंतु राष्ट्र था। सतयुग के समय का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि उस समय न राज्य था, न राजा, किसी प्रकार का कोई दंड था न दंड देने वाला था, फिर भी राष्ट्र था। अगर हम कार्लमार्क्स के वैज्ञानिक साम्यवाद की बात करेंगे तो देखेंगे की उन्होंने भी अन्त में राज्य के अंत की बात की और राष्ट्र को नहीं माना। परंतु हम मार्क्सवादी सिद्धांतों को आधार बनाकर जितनी भी शासन व्यवस्था बनी उन्हें देखें तो 'यह सिद्ध हो चुका हैं की 'राष्ट्र' की प्रेरणा सिर्फ पूंजीवादी व्यवस्था की उपज नहीं, अपितु कम्युनिस्ट व्यवस्था में भी वही जीवन की सबसे शक्तिशाली प्रेरणा हैं।[2] इस प्रकार राष्ट्र और राज्य को हमें समान न समझ कर उसको अलग-अलग शब्दों में प्रयोग करना चाहिए। दीनदयाल उपाध्याय कहते हैं कि 'राष्ट्र का अस्तित्व बहुमत और अल्पमत पर आधारित नहीं रहता। राष्ट्र की एक स्वयंभू सत्ता हैं। वह स्वयं प्रकट होती हैं और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी में विभिन्न इकाइयों की स्थापना करती है। वे विभिन्न इकाइयाँ जिनमें राज्य भी एक है।[3] इस प्रकार राज्य राष्ट्र की एक इकाई है न की दोनों समान हैं।

1. दीनदयाल उपाध्याय. एकात्म मानववाद ,तत्व मीमांसा सीद्धांत विवेचना-प्रभात पेपरबैक्स. 2016 पृष्ठ 103-104
2. विश्वकर्मा जयंती, राष्ट्र जीवन की दिशा, चतुर्थदश संस्कारण, लोकहित प्रकाशन, राजेन्द्र नगर लखनऊ, 2014 पृष्ठ, 39
3. वहीं. पृष्ठ देखे, 38-39

राष्ट्र का स्वरूप सार्वभौम धर्म

कुछ लोग हिन्दू राष्ट्र को एक सांप्रदायिक राष्ट्र मानते हैं, लेकिन दीनदयाल उपाध्याय का मानना है कि जो हिन्दू राष्ट्र की मूल धारणा से परिचित नहीं हुए हैं वही यह समझते हैं। हिन्दू राष्ट्र हो जाने से यहा पर रह रहे अन्य पंथ के लोग कहाँ रहेंगे, यहाँ पर उनका अधिकार छिन जाएगा, इस प्रकार नाना प्रश्न कर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि हमारा राष्ट्र सेकुलर है, किसी धर्म से कोई लेना देना नहीं है। दीनदयाल उपाध्याय कहते हैं की इस प्रकार की भ्रांतियां कांग्रेस के द्वारा फैलाई गई हैं। दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार 'सेक्युलर शब्द लोगों की जबान पर इतना चढ़ गया है कि बड़े-बड़े नेता से लेकर गाँव-गाँव,गली-गली में बातचीत के स्वर को ऊँचा करके भाषण की हवस मिटाने वाले छुटभैया भी दिन में चार बार 'सेक्युलर स्टेट' की दुहाई देकर अपनी बात मनवाने तथा दूसरों को उसके विरुद्ध बता कर गलत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि भारत सरकार या बोलने वाले नेता तथा सुनने वाली जनता 'सेक्युलर' शब्द का क्या अर्थ समझती है। विधान परिषद में 'सेक्युलर स्टेट' का मतलब पूछा गया तो उन्होने भी अर्थ बताने के स्थान पर सम्मानीय सदस्य को डाटकर कोष देखने को कहा। फलतः समस्या सुलझ नहीं पाई और आज भी लोग सेक्युलर शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं।[1] आज भी विद्वानों में यह वाद-विवाद बन हुआ है। मुख्य रूप से 'धर्म' और 'रिलीजन' को एक समान रूप से परिभाषित करना या इसको पर्यायवाची मानना और एक दूसरे के लिए प्रयोग करना यह यूरोप के ज्ञान का हमारे ऊपर आरोपित हो जाने का सटीक उदाहरण है। पश्चिम में रिलीजन के नाम पर जीतने भी अत्याचार, संघर्ष ,और युद्ध हुए उसे भारत पर भी वैसे ही माना गया, पर भारत की धर्म की लड़ाई में बहुत अंतर हैं। 'रिलीजन का अर्थ मत, पंथ से है धर्म से नहीं। धर्म तो काफी व्यापाक तत्व है जो मानव जीवन के सभी पहलुओं से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार दीनदयाल जी के अनुसार हिन्दू राष्ट्र का अर्थ पांथिक राष्ट्र नहीं, बल्कि हिन्दू (जीवन जीने की पद्धति) शाश्वत धर्म (नियम) के अनुसार जीवन यापन के कला का नाम है न की सांप्रदायिकता का। आज धर्म को एक सीमित स्वरूप मे देखा जाता है, धर्म की व्यापकता को छुपा कर उसके विकृत रूप को विश्व के समक्ष फैलाया जा रहा है।

आज यह अवश्यक है कि समाज को राष्ट्र की भारतीय अवधारणा का स्पष्ट बोध हो, जिससे राष्ट्र के सभी घटक पूर्ण व्यवस्थित रूप से परस्पर पूरकता के साथ राष्ट्र के विकास में सहभागी हो सकें।

*****

1. विश्वकर्मा जयंती, राष्ट्र जीवन की दिशा,चतुर्थदश संस्कारण,लोकहित प्रकाशन, राजेन्द्र नगर लखनऊ, 2014 पृष्ठ,53.

भारतीय अस्मिता में पर्यावरण चिंतन की निरंतरता

डॉ. सुरेन्द्र कुमार[1]

'अस्मिता' में 'स्व' (आत्म) के होने का भाव प्रमुख है। 'स्व' का परिज्ञान होना ही इसका निहितार्थ है। डॉ. सुरेन्द्र गुप्त के अनुसार - ''कोशगत दृष्टि से 'अस्मिता' शब्द अहंकार का वाचक है, किन्तु प्रयोग रूढ़ि ने इसे निजत्व का समानार्थी बना दिया है। 'अस्मिता' जनित गौरव का सम्बंध व्यक्ति, जाति, समाज और राष्ट्र किसी से भी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि - व्यक्ति, समाज, देश, भाषा, धर्म और संस्कृति आदि की अपनी-अपनी (पृथक) विशेषताएँ होती हैं।'[2] अतः सम्यक् रूप से अस्मिता किसी व्यक्ति, समाज, देश, संस्कृति और भाषा के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान कराने वाली चेतना का नाम है। इसमें दूसरों से विशिष्टता का बोध निहित रहता है। वास्तव में अस्तित्व के संकट बोध (पहचान) से अस्मिता का प्रादुर्भाव हुआ है। यह संकट बोध व्यक्ति, समाज, जाति, धर्म भाषा संस्कृति और देश के रूप में प्रकट हुआ है। सांस्कृतिक अस्मिता, भाषाई अस्मिता और क्षेत्रीय की अस्मिता आदि विशिष्ट पहचान की द्योतक हैं। जब इनके पहचान को संकट खड़ा होता है तो अस्मिता जागृत हो जाती है। आज पर्यावरण की अस्मिता या 'पर्यावरण के संकट' ने भी पूरी मानव जाति को चिंताग्रस्त कर दिया है। पर्यावरण संकट की दृष्टि से आज सम्पूर्ण मानव जाति के साथ-साथ अन्य जीव-जन्तुओं की प्रजाति भी विनाश के कगार पर है।

मानव-जीवन को स्वच्छ, स्वस्थ, समृद्ध, सुखी एवं आनन्ददायक स्वरूप प्रदान करने में प्रर्यावरण की भूमिका अहम् होती है। प्रकृति ने सम्पूर्ण प्राणी जगत को उपयोगी व जरूरी वस्तुएँ उपलब्ध करायी हैं। लेकिन मनुष्य के लालच ने प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन कर अपने स्वार्थ और लाभ की ही पूर्ति की है। परिणामस्वरूप 'पर्यावरण संकट' मानव-जाति के समक्ष एक बड़ी (भयंकर) चुनौती के रूप में खड़ा है, जबकि प्रकृति हमें सचेत करती हुई कहती है - "Human! I can fulfill your needs only, not your greeds!" अर्थात् हे मानव, मैं केवल तुम्हारी जरूरतों को पूरा कर सकती हूँ, तुम्हारे (स्वार्थ) लालच को नहीं'

मानव के इसी लालच के चलते पर्यावरण तेजी से प्रदूषित होता जा रहा है, परिणामस्वरूप प्राकृतिक आपदाओं और महामारियों के होने की आशंका बढ़ने लगी है। आज मानव-जाति 'डिजिटल ऐज' में जीवन

1. असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, रामलाल आनन्द महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

2. प्रसाद के नाटक और भारतीय अस्मिता : डॉ. सुरेश गुप्त, पृ. 9.

यापन कर रही है। विज्ञान और प्रौद्योगिक के चलते मानव चारों ओर से मशीनों से घिरा है। बल्कि यूँ कहें वह स्वयं भी एक निर्जीव पुर्जे में तब्दील हो गया है। मानवताविहीन विज्ञान और बढ़ती जनसंख्या, गरीबी और अशिक्षा की भी पर्यावरण प्रदूषण और पारिस्थितिकी असंतुलन में अहम् भूमिका है। ऐसी अवस्था में मानव पर्यावरण को शुद्ध करने में असमर्थ दिखता है। वह अपने परिवेश के प्रति लापरवाह होता जा रहा है। मशीनों और कारखानों के अत्यधिक प्रसार ने 'पर्यावरण की शुद्धता' को विनष्ट कर दिया हैं। अतः जल, हवा, मिट्टी आदि सभी प्रदूषित हो चुके हैं। अत्यधिक प्रदूषण और मनुष्य द्वारा किए गए प्रकृति के अनावश्यक दोहन ने, आज पर्यावरण को पूर्णतः असंतुलित कर दिया है। परमाणु बमों के परीक्षणों और ग्रीन हाउसों के बढ़ते प्रसार ने तो 'मानव-जाति' के सामने 'ग्लोबल वार्मिंग' (वैश्विक ताप वृद्धि) के रूप में महाविनाशकारी समस्या को खड़ा कर दिया है। पर्यावरण में प्रदूषण की अधिकता के कारण ओजोन परत भी प्रभावित हुई है। जैसाकि हम सभी जानते हैं 'ओजोन परत' समस्त प्राणी जगत के लिए 'रक्षा कवच' का कार्य करती है। यह 'रक्षा कवच' सूर्य की पैराबैंगनी किरणों (Ultra Violet Rays) को पृथ्वी पर आने से रोकती है। यह किरणें मानव एवं वन्य प्रजाति के लिए अत्यधिक आत्मघाती हैं। इसके प्रभाव से अनेक घातक बीमारियों के (विशेषकर त्वचा) होने और बढ़ने का खतरा रहता है। मानव की सुख-सुविधाओं की लालसा ने भी 'आग में घी' का काम किया है। अपने जीवन को अत्यधिक आनन्ददायक बनाने के एवज में मनुष्य ने सुख-साधनों के निर्माण की दिशा में कुछ ऐसे कार्यों को अंजाम दिया जिससे वातावरण में 'क्लोरोफ्लोरो कार्बन्स' की मात्रा अधिक बढ़ गई है। इसने भी ओजोन परत को कमजोर करने में मदद की है। वहीं मोटरों एवं गाड़ियों की बढ़ती अनावश्यक तादाद ने भी शोर एवं वायु प्रदूषण में वृद्धि की है। गाड़ियों, कारखानों व फैक्टरियों से निकलते धुएँ से पृथ्वी के वातावरण में 'कार्बन-डाईआक्साइड' के साथ-साथ मिथेन, नाइट्रस आक्साइड व हैलोकार्बन की मात्रा को बढ़ा कर उसे और अधिक प्रदूषित कर दिया है। परिणामस्वरूप मानव का साँस लेना मुश्किल हो रहा है।

मानव भी अन्य-प्राणियों की भाँति जैवमण्डल (पर्यावरण) का ही एक अंग है। वह प्रकृति की गोद में ही खेलता है। उसी में सांस लेता है, क्रीड़ाएँ करता है, जल ग्रहण करता है, भोजन प्राप्त करता है यानी मनुष्य के समस्त क्रियाकलाप प्रकृति से प्रत्यक्ष-या परोक्ष रूप से जुड़े या नियंत्रित होते हैं। राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त की पंक्तियाँ मनुष्य और प्रकृति के सम्बंधों की सच्ची तस्वीर पेश करते हैं-

''जिसकी रज में लोट-लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक-सरक कर खड़े हुए हैं। भारत-भारती''[1]

प्रत्येक मानव की 'पर्यावरण को स्वच्छ और शुद्ध रखना' पहली और अंतिम प्राथमिकता होनी चाहिए। विकास का मतलब पर्यावरण का विनाश या उसे प्रदूषित करना नहीं होता है। संतुलन ही विकास को सही अर्थ

1. भारत-भारतीः मैथिलीशरण गुप्तः

देता है। कहा भी जाता है, जो संतुलित रहता है वही सार्थक जीवन व्यतीत करता है। तब यह कैसे संभव है कि हम 'पर्यावरण को प्रदूषित और असंतुलित कर' अच्छे जीवन और विकास की बात करें। अतः मानव-जीवन की सार्थकता पर्यावरण के संतुलन में ही निहित है। मनुष्य का यही दुर्भाग्य है कि वह सभ्यता और विकास की अन्धी दौड़ के चलते पर्यावरण के संतुलन को विस्मृत कर उसका अत्यधिक दोहन करता चला गया। परिणामस्वरूप आज के मानव को पर्यावरण संतुलन करने की फिक्र होने लगी है। वह आज मन से पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता का अनुभव कर रहा है। भारतीय चिंतन परम्परा में पर्यावरण (प्रकृति) को विशेष महत्व दिया गया है। अपने परिवेश के प्रति सजग और संवदेनशील रहना, पर्यावरण को शुद्ध और स्वच्छ रखना, उसका संरक्षण करना, यह सब हमारी वैदिक परम्परा में विस्तारपूर्वक दर्शाया गया है।

वेद भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य और पर्यावरण चिंतन के आदिस्रोत हैं। वेदों की स्थिति सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। उनकी सार्वभौमिकता निष्कलंक है। वेदों में निहित सन्देश मानव-मानवेत्तर हित, विश्व शांति और विश्व कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने वाला है, उसकी उपयोगिता व उपादेयता सार्वभौमिक है। प्राचीनकाल (वैदिक काल) से ही भारतीयों के मन में प्रकृति-सौंदर्य, संरक्षण और उसके संवर्द्धन के प्रति पूजा का भाव रहा है। पत्थरों के प्रति पूज्य भाव, नदियों को माता व देवी कहकर बुलाने का भाव, सूर्य को नमस्कार करने का भाव, पशु-पक्षियों एवं पहाड़ों के प्रति आदर का भाव, केवल भारतीयों या भारत में ही संभव है।

अथर्ववेद के 'पृथ्वी-सूक्त' में मानव और भूमि का अन्योन्याश्रित सम्बंध अनेक रूपों में व्याख्यायित हुआ हैं, इसी सूक्त में पृथ्वी की माता के रूप में प्रतिष्ठा की गई है और मनुष्य को पुत्र रूप में दर्शाया गया है।

''माता भूमिः पुत्रोऽहं प्रथिव्याः।''[1]

वहीं पृथ्वी को विश्वंभरा और हिरण्यवक्षा की संज्ञा से भी विभूषित किया गया है - ''विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशिनी''[2]

वह कामधेनु है, जो अपने मानव रूपी पुत्रों/पुत्रियों की हर जरूरत को खुशी-खुशी पूर्ण करती है। वह अपने पुत्रों के लिए वर्षा से जलमयी होकर अनेक प्रकार की फलदायी वनस्पतियों को उत्पन्न करती है। समस्त जीव-जन्तु उसी की छत्रछाया में पनपते हैं पालित-पोषित होते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (8.5 'पृथ्वी सूक्त' में पृथ्वी को 'ऐश्वर्य और सौभाग्य दात्री' कहा गया है अर्थात् वह बिना किसी स्वार्थ के मानव-जाति पर अपनी कृपा दृष्टि रखकर उन्हें सौभाग्यशाली और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन का वरदान देती है। अथर्ववेद के 'भूमि सूक्ति' में भूमि माता से यह प्रार्थना की गई है कि वह अपने जनों (मानव पुत्रों) को सुरक्षा, दीर्घ आयुष्य, धन-धान्य, औषधि, जल और दूध दें।

1. अथर्ववेद पृथ्वी सूक्त (12/1/12)
2. अथर्ववेद पृथ्वी सूक्त . 12/1/6

''सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय में पयः।''[1]

वेदों के अन्तर्गत पर्यावरण के संततुलन को लेकर अनेक प्रसंगों की अवधारणा की गई है, जिसमें पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और आकाश के प्रति असीम श्रद्धा व्यक्ति की गई है। इनको विभिन्न देवों के रूप में भी परिगणित किया गया है। जैसे जल देवता, अग्नि देव, पृथ्वी देवी, वनस्पति देवी आदि। 'विष्णुपुराण' के एक प्रसंग में पृथ्वी को शाकंबरी नाम से संबोधित किया गया है जिसमें उसे प्रकृति या उपज की देवी कहा गया है। हड़प्पाकालीन मुद्रा में एक स्त्री के गर्भ से एक वृक्ष निकलता दर्शाया गया है। वहीं तक्षशिला, बसाड़ व कौशाम्बी से प्राप्त मूर्तियों में एक स्त्री लताओं के बीच नग्नरूप में चित्रित की गई है, जिसे उपज की देवी की संज्ञा दी गई है।

ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद (12,69.72), 'गोभिल गृह्य सूत्र' (4.4.27-30) तथा 'पारस्कार गृह्य सूत्र' (2.17-9.40) में सीता का उल्लेख कृषि की देवी के रूप में किया गया है। 'अर्थशास्त्र' में कृषि से सम्बंधित अधिकारी को सीताध्यक्ष कहा जाता है। 'नैषधीय चरित्र' में सीता को कृषि और वैभवदात्री कहा गया है। इस सम्बंध में विद्वान गोविंदचातक का कथन द्रष्टव्य है। यथा -

''सन्तानोत्पति से लेकर पालन-पोषण और सांस्कृतिक आचार-विचार एक संसार को परिवृत्त किए रहने के कारण प्रकृति को मानव ने स्त्री के रूप में देखा। इसलिए अनेक-देवी-देवताओं की कल्पना माँ के रूप में की गई है।''[2]

'मार्कंडेय पुराण' में सभी देवियों द्वारा विश्व को जीवनदायिनी वनस्पति प्रदान करने की बात स्वीकार की गई है। पर्यावरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक जल है। पृथ्वी से जन्मी समस्त वनस्पतियों एवं वन्य-प्राणियों को जिन्दा रहने के लिए जल और वायु की आवश्यकता होती है। प्रत्येक पौधे और वन्य प्राणियों का जीवन पर्यावरण के उपरोक्त दो मुख्य घटकों पर ही निर्भर रहता है। दोनों प्रकृति के अमूल्य उपहार हैं। वेदों में जल को अमृत कहकर जीवन में उसकी विशिष्टता और महत्व को ही दर्शाया गया है। जल के सम्बंध में 'जल ही जीवन है' या 'जल है तो कल है' कहकर उसके वैशिष्टय का ही बखान किया गया है। ऋग्वेद में जल के औषधीय गुणों पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

''अप्स्वन्तरअमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।''[3]

अर्थात् जल रोग नष्ट करने वाला व सभी प्राणियों का भेषजदूत है।

एक अन्य स्थल पर जल को मानव-जाति, प्राणी-जगत व वनस्पतियों का मंगल करने वाला दर्शाया गया है। यथा - ''ओमानभावों मानुषीर मुक्तं घाततोकाय तन याम शं यो, यूयं दिष्ठा भिषजो मातृतमाः विश्वस्य

1. अथर्ववेद पृथ्वी सूक्त 12/1/10
2. पर्यावरण और संस्कृतिः डॉ. गोविन्द चातकः पृ. 13
3. ऋग्वेद- 1/23/19

स्थातु जगतो जनित्री।''[1]

यजुर्वेद के 'जलसूक्त' में जल को माता के दूध की भाँति दिव्य कहकर उसे सबका कल्याण करने वाला बताया गया है। यथा -''यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः।''[2]

छांदोग्य उपनिषद्[3] में अन्न से भी बढ़कर जल को दर्शाया गया है। वही महाभारत में नदियों को 'विश्वमातर' (विश्वमाता) कहा गया है। यथा -

''विश्वस्य मातर सर्वाः सर्वाश्चैव महाफलाः।

इत्येता सरितो राजसभा ख्याता यथा स्मृति।।''[4]

हमारी देवी नदियाँ हमारी रक्षा के लिए दयामय बनी रहें। वे हमें पीने के लिए जल प्रदान करती रहें और हम पर आनन्द और खुशियाँ बरसाती रहें। हमारी बहुमूल्य निधियों और मानव की भी विधाता, हे नदियों! हम तुम्हारे आरोग्य जल के आकाँक्षी हैं।

समस्त मानव और पर्यावरण के सन्दर्भ में जल का महत्व असदिंग्ध है। कवि रहिम के शब्दों में 'रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून' की चिंता देखी जा सकती है। निसन्देह यह कहा जा सकता है कि जल की उपलब्धता और शुद्धता का होना सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए कल्याणकारी है। जल-सन्तुलन ही पृथ्वी को और उसकी हरीतिमा को जीवित रखने का एकमात्र उपाय है। जल संकट होना अर्थात् समस्त-प्राणियों के जीवन का संकट में होना है।

'वायु' पर्यावरण का दूसरा अति महत्वपूर्ण घटक है। वेदों में वायु की स्तुति को लेकर कई सूक्तों की सृष्टि की गई है। ऋग्वेद के अन्तर्गत वायु को 'प्रत्यक्ष ब्रह्म' कहा गया। वह प्राण तत्व के रूप में प्रतिष्ठित है। यथा - ''नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि।''[5]

वेदों के वायु सम्बंधी अनेक सूक्तों में उसे 'जीवनदायिनी शक्ति' कहकर सम्बोधन किया गया है। ऋग्वेद में वायु के सम्बंध में यह भाव व्यक्त किया गया है कि हे वायु! तुम औषधी प्राप्त कराओ, उसमें विद्यमान विकार को बाहर ले जाओ। तुम निश्चित ही औषधि स्वरूप हो। तुम स्वास्थ्य के लिए सुखकर्ता और जीवनदायक हो।

''वात आवातु भेषज, शम्भु मयोभु ना इदे ... आयूषि तारिषत!''

''उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा

1. गोभिल गृह्य सूत्र (4.4.27-30)
2. यजुर्वेद -36/15
3. छांदोग्य उपनिषद्-10/2
4. महाभारत, भीष्म पर्व 9/37-38
5. ऋग्वेद 1/90/9

सनो जीवातवे कृधि।''[1]

वायु, जल और अग्नि आदि की गिनती पृथ्वी के आदि पूर्वजों के रूप में हुई है। इनमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र सभी शामिल हैं। जिस तरह मानव कुटम्बों (परिवारों) में रहता है, उसी प्रकार सूर्य का भी अपना एक परिवार है, जिसे 'सौरमण्डल' या 'सौर परिवार' कहते हैं। मानव से लेकर वन्य-प्राणियों का जीवन चक्र सूर्य की परिक्रमा पर ही निर्भर है। पर्यावरण में विभिन्न प्रकार के जीवों और पेड़-पौधों की अनुकूलता सूर्य के ताप (गर्मी) पर निर्भर करती है।

पर्यावरण तथा मानव-जीवन के लिए अग्नि (उष्मा) भी उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है जितनी वायु और जल। अग्नि का वास, पृथ्वी, आकाश और अंतरिक्ष तीनों में है। अंतरिक्ष में वह विद्युत के रूप में और आकाश में सूर्य के रूप में, पृथ्वी पर तो वह अनेक रूपों में विद्यमान है। इन तीनों तत्वों का सूत्रबद्ध होना प्राकृतिक अनुकूलता की निशानी है। ऋग्वेद में 'अग्नि सूक्त' के अन्तर्गत सूर्य को पिता तथा पृथ्वी को माता मानकर उनकी पूजा करने का निर्देश किया गया है। यथा -

''द्योर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयताम''[2]

वहीं अथर्ववेद में कहा गया है 'मनुष्य को अपनी मनन-शक्ति द्वारा सूर्य विद्या, पृथ्वी विद्या और वायु विद्या में निपुण हो, दूसरों का कल्याण करना चाहिए। यथा - ''मनसस्पत इमं नो दिवि देवषु यज्ञम्।''

स्वाहा दिवि, स्वाहा पृथिव्यां, स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते द्यां स्वाहाः।।''[3]

पृथ्वी, जल, अग्नि के साथ-साथ वेदों एवं अन्य प्राचीन ग्रंथों में वृक्ष, पशु-पक्षी, पर्वत, जीव-जन्तु आदि की महत्ता का उल्लेख किया गया है।

वृक्ष का महत्व :

भारतीय संस्कृति में वृक्ष पूजन की परम्परा निहित रही है। वृक्ष, पर्यावरण को प्रदूषण मुक्त रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे मनुष्य और अन्य जीव-जन्तुओं को स्वच्छ वायु प्रदान करते हैं। पेड़-पौधे औषधि के रूप में भी उपयोगी हैं। लक्ष्मण भी संजीवनी बूटी से ही स्वस्थ हुए थे। पुराणों में द्रोण पर्वत को औषधि धारण करने वाला पर्वत माना जाता था। ऐसे अनेक वृक्ष एवं पौधे हैं जिनके प्रति मानव पूजा भाव रखता हैं। इस दृष्टि से तुलसी, बड़, नीम, पीपल आदि महत्वपूर्ण वृक्ष हैं जिनके प्रति मानव की विशेष आस्था है। उपरोक्त वृक्षों की धार्मिक और रासायनिक महत्ता भी असंदिग्ध है। तुलसी के पौधे की नित्य पूजा कर उसमें जल चढ़ाना भारतीय महिलाओं में विशेष महत्व रखता है। यही नहीं आध्यात्मिक दृष्टि से भी वृक्षों का विशिष्ट महत्व है। अतः इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं कि पर्यावरण के संतुलन और उसे शुद्ध बनाने में वृक्षों की भूमिका अहम्

1. ऋग्वेद 10/186/1 व 10/186/2
2. ऋग्वेद 1/164/33
3. अथर्ववेद सूक्त 7/97/7

है। इसलिए मनुष्य को यदि अपना जीवन सुरक्षित रखना है तो अधिक-से-अधिक वृक्षारोपण करे, ताकि पर्यावरण का संतुलन बना रहे। मानव जीवन में वृक्षों के महत्व एवं गुणों के कारण ही ''पीपल, नीम, वट आदि को पूजा जाता रहा है जो पर्यावरण संरक्षण के प्रतीक हैं। नीम, कदली, आँवला को पवित्र माना जाता है। तुलसी का पौधा वायु को शुद्ध करता है जिसमें निहित कपूर व अन्य रसायन मानवोपयोगी हैं।''[1]

पशु-पक्षी व जीव जन्तु का महत्व :

भारतीय संस्कृति में जितना पूजा भाव वृक्षों के प्रति है उतना ही आदरभाव पशु-पक्षी व जीव-जन्तुओं के प्रति भी है। भारतीय संस्कृति में जीव हत्या पाप माना गया है, जिसके करने पर मनुष्य को सीधे नरकलोक प्राप्त होता है। वैदिक और पौराणिक काल में पशु-पक्षियों एवं जीव-जन्तुओं को अत्यधिक आदर-सम्मान दिया जाता था। देवताओं के जीवन में पशु-पक्षी उनके सहचर बनकर रहते थे। कई पशु-पक्षी तो देवी-देवताओं की सवारी के रूप में दर्शाए गये हैं, जिनमें माँ दुर्गा का शेर, शिव का नन्दी (बैल), गणेश का मूसक, सरस्वती का हंस, गंगा का घड़ियाल, लक्ष्मी का उलूक, कार्तिकेय का मोर, शनिदेव और यमराज का भैंसा, विष्णु का शेषनाग और इन्द्र का हाथी आदि-आदि हैं। वहीं देवी-देवताओं ने भी विभिन्न पशु-पक्षियों के रूप में अवतार धारण किये हैं, जिनमें विष्णु का नरसिंह अवतार, शिव का हनुमान (वानर रूप) अवतार, लक्ष्मण का शेषनाग अवतार अन्य, मत्स्यावतार, कूर्मावतार आदि प्रचलित हैं। वेदों में तो गाय को विश्वमाता कहकर उसकी पूजा करने को कहा गया है। भारतीय संस्कृति में अगर किसी पशु का सर्वाधिक सम्मान और आदर है तो वह 'गाय' या 'गौ-माता'। अतः प्रकृति, पशु-पक्षी व जीव-जन्तुओं के प्रति ऐसा साहचर्य और मित्रवत् भाव ही पर्यावरण संरक्षण की पहली शर्त है। जब तक हम प्रकृति और वन्य जीव-जन्तुओं के प्रति आत्म (अपनेपन) भाव नहीं रखेंगे तब तक पर्यावरण के संरक्षण का सपना अधूरा ही रहेगा।

पहाड़ों व पर्वतों का महत्व :

अभिनेता मनोज कुमार द्वारा अभिनीत 'पूरब और पश्चिम' फिल्म - ''इतनी ममता जहाँ नदियों को माता कहकर बुलाते हैं, इतना आदर सत्कार जहाँ पत्थर भी पूजे जाते हैं।'' इस गाने में भारत की महानता, उसकी गौरवशाली संस्कृति का बखान किया गया है, जिसमें नदियों को 'माता' और 'पहाड़ों व पर्वतों' के प्रति श्रद्धा का भाव है, जो भारत जैसे महान देश में ही सम्भव है। भारत में पर्वत सदैव से ही पूजनीय रहे हैं। इस दृष्टि से 'हिमायल पर्वत' सर्वोपरि है। हिमालय को पिता और देवात्मा जैसी आदरणीय संज्ञा देना उसके प्रति भारतीयों के पूज्य भाव को दर्शाता है। पर्वत विभिन्न प्रकार के खनिज-पदार्थों व औषधियों का भण्डार रहे हैं। भाँति-भाँति की जड़ी-बूटियाँ हमें पर्वतों से ही प्राप्त होती हैं। पर्वतों की इसी विशेषता को दृष्टिगत कर प्राचीन ऋषि-मुनियों ने - ''औषधीनां परा-भूमिः हिमवान शैल उत्तमः'' कहा है। पौराणिक व वर्तमान काल में जो पर्वत विश्वविख्यात रहे हैं जिनकी महिमा का गुणगान इतिहास प्रसिद्ध है उनमें सुमेरु, विन्ध्य, चित्रकूट, मदनाष्टक,

1. भारतीय संस्कृति का आत्मभाव : डॉ. चन्द्रमोहन अग्रवाल, पृ. 99.

गोवर्धन, आबू, अरावली, अमरकंटक, कैलाश रामगिरि आदि भारतीय जनमानस के सिरमौर हैं, जिनके प्रति मानव में युगों-युगों से आदर एवं पूजा का भाव विद्यमान रहा है।

भारतीय संदर्भ में प्रत्येक युग वैदिक, पौराणिक, प्राचीन, मध्यकाल और आधुनिक युग में पर्यावरण के प्रति विशेष आस्था का भाव देखा गया है। मध्यकाल में भी पर्यावरण संरक्षण के प्रति विशेष रुचि रही। मध्यकाल दरअसल राजे-रजवाड़ों का युग था। राजा-महाराजाओं की स्थापत्य के प्रति विशेष रुचि थी इस लगाव के चलते ही उन्होंने भारत वर्ष में अनगिनत महलों, किलों एवं सुन्दर-सुन्दर ऐतिहासिक इमारतों का निर्माण करवाया, जो आज तक भारत और भारतीयों के लिए गौरव और सम्मान का प्रतीक बनी हुई हैं। लेकिन स्थापत्य के साथ-साथ उनमें पर्यावरण के प्रति भी अथाह लगाव था। उनका यह लगाव बड़े-बड़े तालाबों, जलाशयों, कुँओं, बावड़ियों, सुन्दर एवं आकर्षक पार्कों, बाग-बगीचों और वृक्षारोपण में दृष्टिगत होता है। यही नहीं उनका यह लगाव मयूर (मोर) कबूतर, विभिन्न प्रकार की चिड़ियों शुक, पिक, बाज, हाथी-घोड़े आदि विभिन्न पशु-पक्षियों एवं जीव-जन्तुओं के संरक्षण एवं पालन-पोषण के रूप में भी देखा जा सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक राजा-महाराजाओं के स्तम्भों, मुद्राओं एवं ध्वजों पर विभिन्न पशु-पक्षियों की आकृति विद्यमान होती थी। उदाहरणस्वरूप राजा अशोक के स्तम्भों में आकृति स्वरूप सिंह, अश्व, गज, वृषभ आदि अंकित हैं (सारनाथ स्तम्भ)। गुप्तकाल में गुप्तों के राष्ट्रीय ध्वज पर गरुड़ नामक पक्षी की आकृति अंकित है। इसी कारण उनका राष्ट्रीय ध्वज गरुड़-ध्वज कहलाता था। गुप्तकालीन साहित्य और दर्शन में भी पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें कही गई है जो उनके पर्यावरणीय प्रेम को दर्शाती हैं।

कालिदास, वाल्मीकि, भवभूति, माघ, बाण, अश्वघोष आदि ने भी अपने साहित्य में प्रकृति और पशु-पक्षियों के प्रति मानव के साहचर्यगत सम्बन्ध को दर्शाया है जो उनकी प्रकृति संबंधी गहरी आस्था को दर्शाता है। क्रौंच पक्षी का वध, वाल्मीकि के हृदय को विदीर्ण कर देता है। तब वाल्मीकि का हृदय कराह उठता है तो ''मा निषाद प्रतिष्ठाम्'' का उद्भव होता है। वहीं कालिदास की शकुन्तला वन आश्रम में ही रहती है। आश्रम के वन्य प्राणियों से उसका अथाह लगाव देखते ही बनता है। लगाव इतना गहरा है कि शकुन्तला के साथ पशु-पक्षी बहुत खुश रहते हैं, लेकिन शकुन्तला के जाने पर हिरण घास चरना छोड़ देते हैं, मोर नाचना भूल जाते हैं और विभिन्न पक्षी चहचाहना भूल जाते हैं। प्रकृति और उसके वन्य-प्राणियों के प्रति ऐसी गहरी संवेदना और लगाव अन्यत्र दुर्लभ है। कालिदास या यूँ कहें समस्त संस्कृत साहित्य 'प्रकृति' का ही पर्याय है।

आधुनिक युग ने जिस जागरुकता का विस्तार किया, उसका सर्वाधिक असर सुख-सुविधाएँ जुटाने तथा उपभोगवाद को बढ़ावा देने में ही दिखाई दिया। परिणामस्वरूप मानव पर्यावरण को संरक्षण देने के बजाए, उसके अप्राकृतिक शोषण में लग गया। डॉ. प्रेमानन्द चन्दोला का मानना सही हैं -

''विज्ञान और टेक्नोलॉजी ने हमें ढेर सारी सुख-सुविधाएँ, ऐशो-आराम और भोग विलास की चीजें दी हैं, पर इन बातों में खोए हुए हम यह भूल गए कि यह पर्यावरण हमें प्रकृति से विरासत में मिला था, पर

नए युग के आने से, नए रंग-ढंग से हम इस प्राकृतिक पर्यावरण को अप्राकृतिक बनाते चले जा रहे हैं।''[1]

पर्यावरण के संरक्षण के लिए पर्यावरण संबंधी शिक्षा का दिया जाना भी अतिआवश्यक है। उसके माध्यम से जन-साधारण को पर्यावरण से जुड़ी भयंकर समस्याओं से परिचित करा, उनके समाधान के लिए जनमानस को मानसिक रूप से तैयार करना आवश्यक है। पर्यावरणीय शिक्षा मनुष्य की प्रकृति के प्रति उसकी अभिरुचि को बनाने में सहायक होती है। इसके माध्यम से मानव प्रकृति के प्रति भावनात्मक लगाव महसूस करता है। उससे निकटता बनाये रखना चाहता है। इस भावनात्मक जुड़ाव के चलते वह प्रकृति को 'माँ' एवं 'धात्री' के रूप में देखने लगता है। प्राचीन वेदों में प्रकृति के प्रति मानव का यही भाव प्रमुख रहा। इसी कारण वह प्रकृति और वन्य प्राणियों के प्रति पूज्य भाव रखता था। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पर्यावरण प्रदूषण और संरक्षण वर्तमान विश्व की सर्वाधिक चिंताजनक समस्या है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि वर्तमान दौर में पर्यावरण की अस्मिता का संकट अत्यधिक गहराता जा रहा है। अगर समय रहते हमने पर्यावरण की सुध नहीं ली, तो आने वाली संतति को प्रकृति के भयंकर परिणामों को झेलना पड़ेगा।

*****

1. डॉ. प्रेमानन्द चन्दोला,पृ. 26

भारतीय अस्मिता की निरंतरता में हिन्दी साहित्य का योगदान

डॉ. संध्या वात्स्यायन[1]

भारतीय संस्कृति की पहचान अत्यंत प्राचीन है। न केवल कला, साहित्य के क्षेत्र में बल्कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी भारतीय अस्मिता निरंतर कायम रही है जिसका लोहा पूरा विश्व मानता रहा है।

'भारतीय अस्मिता की निरंतरता' के सन्दर्भ में अस्मिता क्या है, उसका अर्थ जान लेना आवश्यक है। अस्मिता का मूल भाव है- मेरी सत्ता अर्थात मन का वह भाव या मनोवृत्ति जिसमें एक पृथक और विशिष्ट सत्ता का भाव निहित है। दूसरा अर्थ शंकर के अद्वैतवाद से जुड़ता है जिसमें वे कहते हैं- 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात 'मैं ही ब्रह्म हूँ' का भाव। सांख्य में अस्मिता को 'मोह' तथा वेदांत में 'हृदय ग्रंथि' कहा गया। योग शास्त्र के अनुसार अस्मिता को पाँच क्लेशों में से एक माना गया। कुछ अर्थों में इसे 'अभिमान' भी कहा गया है। साहित्य में इसे 'अस्मिता' या 'स्वत्व' के रूप में स्वीकार किया जाता है।

अस्मिता को अंग्रेजी में 'आइडेंटिटी' का अनुवाद मान लिया गया है, परन्तु यह सही नहीं है। भारतीय अस्मिता की शुरूआत सिन्धु घाटी सभ्यता से मानी जा सकती है। आज जहाँ हम खड़े हैं, उसकी प्रारम्भिक नींव सिन्धु घाटी सभ्यता में ही पड़ी। प्रोफेसर चाइल्ड लिखते हैं- 'सिन्धु सभ्यता एक खास वातावरण में आदमी की जिंदगी का एक पूरा संगठन जाहिर करती है और सालों-साल की कोशिशों का ही नतीजा हो सकती है। यह एक टिकाऊ सभ्यता थी; उस वक्त भी हिंदुस्तान की अपनी छाप पड़ चुकी थी और यह आज की हिंदुस्तानी संस्कृति का आधार है।'[2] यह रिश्ता पाँच हज़ार साल पुराना होते हुए भी वैसा ही अटूट है। मैक्समूलर जैसे विद्वान भी भारत की परम्परा से अचंभित थे। 1882 में कैंब्रिज विश्वविद्यालय के अपने व्याख्यान में वे भारत की उन तमाम सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा सामाजिक विरासत का ज़िक्र करते हैं जिसने भारत की परम्परा को अक्षुण्ण रखा। मैक्समूलर की ही बात को इतिहासकार रोम्यां रोला ने कुछ यूँ आगे बढ़ाया- 'अगर दुनिया की सतह पर कोई एक मुल्क है जहाँ के जिन्दा लोगों के सभी सपनों को उस वक्त से जगह मिली है, जब से इन्सान ने अस्तित्व का सपना शुरू किया, तो वह भारत है।'[3] विद्वान डॉडवेल के अनुसार 'भारत में समुद्र की तरह

1. एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, अदिति महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली

2. हिंदुस्तान की कहानी- (सम्पूर्ण), जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, संस्करण- 2013, पृष्ठ-56

3. वही, पृष्ठ-02

सोखने की असीम शक्ति थी'।[1] बाहरी ताकतों के मेलमिलाप से भारत की जीवनी शक्ति और मजबूत हुई, यहाँ का 'हिन्दूपन' उन पर छा गया। विन्सेंट स्मिथ का मानना है- 'विदेशी अपने पूर्वजों शकों और युई-ची की तरह हिन्दू धर्म की पचा लेने की अद्भुत शक्ति के वश में हुए और तेज़ी के साथ उनमें 'हिन्दूपन' आ गया।'[2]

हम सब जानते हैं कि हिन्दी साहित्य का प्रारंभ लगभग दसवीं सदी से माना गया है, जिसका विकास संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से हुआ। इस दृष्टि से भारतीय अस्मिता की निरंतरता के सूत्र का आरम्भ संस्कृत ग्रंथों से माना जायेगा जो प्रायः वेदों–पुराणों में अंतर्निहित है। हमारी भारतीय संस्कृति के पुरातन चिह्न वेदों में मिलते हैं। वेदों का समय काल बेहद अनिश्चित है लेकिन इसे प्रमाणित तौर पर 2500 साल से कम पुराना नहीं माना जाना चाहिए। वेदों में ईश्वर-मनुष्य-जगत के संबंधों का वर्णन है। वेदों में स्तुतियाँ हैं; प्रार्थनाएं हैं; यज्ञ-हवन की विधियाँ हैं; जादू-टोना भी है; और बहुत ऊँचे दर्जे की प्राकृतिक कविताएँ भी हैं। यह सब कुछ भारतीय अस्मिता को नया आयाम देती हैं। निरंतरता को कायम रखती हैं। प्रारंभिक वैदिक समय में ईश्वर-आत्मा के सवाल इतने महत्व के नहीं थे जो कालांतर में हुए। इसी समय में मिलती है- मनुष्य की पहली पुस्तक – ऋग्वेद अर्थात प्रथम वेद। इसमें प्रकृति की सुंदरता और रहस्य की भावना अंतर्निहित है। सच्चे अर्थों में यहीं से भारतीय अस्मिता की खोज चल पड़ी जो आज भी निरंतर जारी है। ईश्वर की परिकल्पना के साथ ही एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद जैसे सिद्धांत पैदा हुए, यह दौर 'वेदान्त' का दौर कहलाया। यहाँ उपनिषदों का ज़िक्र है। वेदों की रचना एक प्रकार से भारतीय सन्दर्भ में एक सत्य की खोज थी, जिसे लोग अपने ढंग से व्याख्यायित करते थे अर्थात ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'' की राह वेदों की राह थी।

उपनिषदों का काल 800 ईसा पूर्व माना जाता है। यह वेदों से आगे का विकास है। उपनिषद अपनी वैज्ञानिक समझ, छानबीन, सत्य की साहसिक खोज के परिणाम हैं। खास जोर आत्मा-परमात्मा पर दिया गया। भीतरी मन को ज्ञान का ऊँचा स्थल माना गया। प्रो. एफ.डब्ल्यू. टॉमस अपनी पुस्तक 'दि लीगेसी ऑव इण्डिया' में कहते हैं– 'उपनिषदों का जो खास गुण है वह है इसका निष्कपटपन। यह इस तरह का ऐसा है, मानो दो दोस्त आपस में किसी गंभीर विषय पर विचार-विमर्श कर रहे हों।'[3] उपनिषदों की अच्छी व्याख्या चक्रवर्ती राजगोपालाचारी करते हैं- 'प्रशस्त कल्पना, विचारों की शानदार उड़ान, जांच-पड़ताल की बेधड़क भावना, जिसके पीछे सच्चाई तक पहुँचने की गहरी प्यास है- इनसे प्रेरित होकर उपनिषदों में गुरु और शिष्य विश्व के 'खुले हुए रहस्य' में पैठते हैं। और यह बात दुनिया की इन सबसे पुरानी पवित्र पुस्तकों को सबसे आधुनिक और संतोष देने वाली बना देती है।'[4] उपनिषद की एक प्रार्थना अत्यंत प्रसिद्ध है- 'असत् से सत् की

1. हिन्दुस्तान की कहानी (सम्पूर्ण), जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, संस्करण-2013, पृष्ठ-84
2. हिन्दुस्तान की कहानी (सम्पूर्ण), जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, संस्करण-2013, पृष्ठ-84
3. हिन्दुस्तान की कहानी (सम्पूर्ण), जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, संस्करण-2013, पृष्ठ-03
4. वही, पृष्ठ 03

ओर ले चल! अंधकार से प्रकाश की ओर ले चल! मृत्यु से मुझे अमरत्व की ओर ले चल!'

वेदों-उपनिषदों के पश्चात् प्राचीन भारत में महाकथाओं की परम्परा का आरम्भ होता है जिसका रूप काव्यात्मक था। इसी कारण महाकाव्य कहलाए। प्राचीन भारत के दो महाकाव्य – 'रामायण' और 'महाभारत' अत्यंत प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। सत्य की खोज के समानांतर तत्कालीन भारत में हो रही घटनाओं को इन महाकाव्यों में स्थान मिला। ये दोनों रचनाएँ विश्व की सर्वाधिक चर्चित रचनाएँ हैं। इसके बाद पुराणों में कथाओं का एक विस्तृत रूप मिलता है, जिसमें अपने-अपने आराध्यों को महिमामंडन के साथ प्रस्तुत किया गया। विष्णुपुराण, शिवपुराण उनमें सबसे प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। रामायण, महाभारत या पुराणों की कथाएँ भारतीय अस्मिता को उसकी जमीन में घटी घटनाओं से जोड़ती हैं, निरंतरता का सूत्र कहीं भी नहीं टूटता। रामायण-महाभारत में सम्पूर्ण आर्यावर्त्त की परिकल्पना है। यह परिकल्पना एक सांस्कृतिक सूत्र का आधार है; हिंसा पर अहिंसा की प्रतिस्थापना पर बल है; असत् पर सत्य की जीत पर बल है। यही भारतीय अस्मिता है। यही भारतीय दर्शन है। इसका एक–एक अंश भारतीयता का अंश है। महाभारत यथार्थ का आधार है और रामायण आदर्श रूप का। महाभारत और रामायण दोनों ऐसे ग्रन्थ हैं जिसमें भारतीय अस्मिता के लगभग सारे चिह्न मिलते हैं। महाभारत में वेदों का बहुदेववाद है; उपनिषदों का अद्वैतवाद है; एकेश्वरवाद की परिकल्पना भी इसमें अंतर्निहित है। ''मन्मना भव मद्भक्तो' कहकर कृष्ण इसी ओर संकेत करते हैं। यह भारतीय अस्मिता के चिह्न ही हैं। महाभारत में ही कर्म का ज्ञान देने वाली भगवद्गीता है जो तीन योग- कर्म, भक्ति, ज्ञान के माध्यम से बेहतर समाज की व्यवस्था देती है।

साहित्य की जो धारा रामायण-महाभारत महाकाव्यों से निकली; वही आगे चलकर भारतीयता के चिह्नों के साथ पुष्ट होती गयी। चाणक्य का 'अर्थशास्त्र' भारतीय अर्थ-तंत्र को दिखाता है। मनु और उनके बाद के स्मृतिकारों ने व्यापार और भारतीय समाज एवम अर्थतंत्र का ब्यौरा दिया है। याज्ञवल्क्य-नारद ने भी इस ओर संकेत दिए हैं। गुप्तकाल में कालिदास अपने साहित्यिक कौशल से मेघदूत, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, रघुवंश जैसी रचनाएँ लिखते हैं जो तत्कालीन भारत की अस्मिता को दर्शाती हैं। शूद्रक रचित 'मृच्छकटिकम' तथा विशाखदत्त रचित 'मुद्राराक्षस' गुप्तकालीन भारत से परिचय कराती हैं। दंडी का 'दशकुमार चरित' दक्षिण भारत का दर्शन कराती है। पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' नामक ग्रन्थ में व्याकरण के सूत्रों के साथ भारत के भूगोल का भी पता चलता है। 6ठवीं सदी में वराहमिहिर ने 'वृहत् संहिता' लिखकर भारत की कृषि अर्थव्यवस्था का इतिहास प्रस्तुत किया। बौद्ध, जैन धर्म संस्कृत, प्राकृत में लिखकर तत्कालीन भारतीय अस्मिता को प्रचारित करते हैं। पालि में लिखा बौद्ध साहित्य सुत्तपिटक, विनयपिटक तथा अभिधम्मपिटक में संकलित है।[1]

1. प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास - रामशरण शर्मा, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, संस्करण 2003, पृष्ठ 35-37

जैसा कि हम सब जानते हैं; हिन्दी साहित्य का आरम्भ दसवीं सदी से होता है। हिन्दी, अपभ्रंश से निकलकर अपना रूप ग्रहण कर रही थी। भारतीय अस्मिता की निरंतरता के सारे सूत्र जो वेदों, वेदांत, उपनिषदों, पुराणों तथा रामायण, महाभारत-गीता में निहित थे, वे हिन्दी साहित्य की धारा से जुड़ते रहे। आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक यह धारा अक्षुण्ण बनी रही। भारतीय अस्मिता की निरंतरता जितनी ऐतिहासिक है, उतनी ही साहित्यिक भी। आदिकालीन साहित्य में अंतर्निहित धर्म, नीति, श्रृंगार तथा वीर रस की रचनाएँ भारतीय अस्मिता की निरंतरता का ही परिणाम है। यह शारंगधर के अपभ्रंश, अमीर खुसरो की खड़ी बोली तथा विद्यापति की मैथिली का दौर था। यह दौर सिद्ध-नाथ साहित्य का भी है। गोरखनाथ मानसिक दृढ़ता पर बल देते हैं। उनका मानना है कि योगी को काम, क्रोध या किसी भी प्रकार का विघ्न विचलित नहीं कर सकता-

हँसिबा बोलिबा रहिबा संग।
काम क्रोध न करिबा संग।।
हँसिबा बोलिबा गाइबा गीत।
दिढ़ करि राखिबा अपना चीत।।
हँसिबा बोलिबा धरिबा ध्यान।
अहि विधि करीबा ब्रह्म गियान।[1]

इन पदों में सहजता पर बल दिया गया जो सच्ची भारतीयता की पहचान है।

लौकिक साहित्य तथा चरित काव्यों का दौर जिन पर पुराणों का प्रभाव दिखता है। इनमें सर्गों–अध्यायों का अनुपालन तथा कथाओं का अनुकरण, पुराणों, रामायण-महाभारत-सा है। अपने राजा या इष्ट की प्रशंसा का भाव यहाँ भी है। हालाँकि रामायण-महाभारत-सा आदर्श यहाँ नहीं मिलता। वह व्यवस्था नहीं मिलती जो सम्पूर्ण आर्यावर्त्त की परिकल्पना से जुड़ा था। भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था और छोटे राजा अपने-आप को ईश्वर के समान रखने में संकोच नहीं करते थे। चंदवरदाई का पृथ्वीराजरासो, हो या नरपतिनाल्ह का बीसलदेवरासो। इनमें भारतीय अस्मिता के चिह्न काफी संकुचित हो चले थे। गौरव था; अभिमान था; साहस था, लेकिन सम्पूर्ण आर्यावर्त्त का सपना नहीं था। झगड़ा देश के लिए नहीं, स्त्री और जमीनों के लिए था। इन रचनाओं में अपने देश के प्रति लगाव उन्हें भारतीयता से जोड़ता है।

आदिकाल के इसी दौर में विद्यापति और अमीर खुसरो जैसे रचनाकार भी हुए। विद्यापति की पदावली में श्रीकृष्ण की प्रेमलीला है। यह भक्ति साहित्य की प्रेरणास्रोत पुस्तक रही। दूसरी ओर अमीर खुसरो हैं जिन्हें अपने देश भारत से प्रेम था। उन्होंने अपनी मसनवी 'नूह सिपहर' का एक पूरा अध्याय भारत की प्रशंसा में

1. हिंदी साहित्य का उद्‌भव और विकास - हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, सं. 1999, पृष्ठ 33

लिख दिया।[1] वे 'भारत को पृथ्वी का स्वर्ग' कहते थे।[2] उन्होंने भारतीय ज्ञान-विज्ञान; यहाँ की जलवायु; यहाँ तक की यहाँ के काले रंग (श्यामवर्ण) की बड़ी प्रशंसा की। उन्हें विदेशी आक्रमण से घृणा थी[3] और वे भारतीय नगरों के प्रशंसक थे।

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल हिन्दी साहित्य को नए आयाम देता है। भक्ति की वही निरंतरता यहाँ दिखती है, जो वेदांत से आयी। भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्णकाल कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है कि 'भक्ति द्राविड़ उपजी, लाये रामानंद' के अनुसार भक्ति का उदय दक्षिण भारत में हुआ और वह धारा उत्तर भारत की ओर आयी। शंकर के अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद, निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद, मध्वाचार्य के द्वैतवाद तथा वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद का प्रभाव भक्ति आन्दोलन पर पड़ा। भक्ति की दोनों धाराओं-सगुण-निर्गुण में भारतीय संस्कृति की छाप स्पष्ट है। भक्ति की प्राचीनधारा कई रूपों में यहाँ विकसित होती है। वल्लभाचार्य का भक्तिमार्ग 'पुष्टिमार्ग' के रूप में जाना जाता है। श्रीकृष्ण उनके आराध्य हैं। वे अवतारी हैं और उनकी लीलाएँ ब्रज, द्वारका तथा कुरुक्षेत्र में होती हैं। अष्टछाप के कवि इसी धारा के कवि हैं जो वल्लभाचार्य की भक्ति-परम्परा का अनुकरण करते हैं। सखाभाव इस भक्ति का प्रधान लक्षण है। ईश्वर के सभी रूप उनके लिए पूजनीय हैं। कृष्ण के जन्म से लेकर सम्पूर्ण संस्कारों में ये भाव सम्मिलित हैं। वात्सल्य एवम श्रृंगार रस इनका आश्रय बनता है-अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए सूरदास ने भक्ति के रूप सखाभाव को समृद्ध किया। श्री कृष्ण का बाल्य और किशोर रूप का अत्यंत सुंदर वर्णन मिलता है। माँ और पुत्र के प्रेम का वर्णन सूरदास ने किया-

सिखवन चलत यशोदा मैयां।
अरबराय कर पानि गहावती, डगमगाय धरे पैयां।[4]

अथवा बाल हठ का चित्रण हो-

मैया कबहूँ बढैगी चोटी
कितिक बार मोहि दूध पयत भई, यह अजहूँ है छोटी।[5]

राधा कृष्ण के प्रेम का चित्रण हो-

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहाँ प्यारी ठाढ़ी[6]

1. भारत की महान विभूति-अमीर खुसरो-व्यक्तित्व एवम् कृतित्व - डॉ. परमानन्द पंचाल, हिंदी बुक सेंटर, संस्करण-2013, पृष्ठ 11
2. किश्वरे हिन्द अस्त बहिश्ते बज़मी (भारत की महान विभूति-अमीर खुसरो : व्यक्तित्व एवं कृतित्व - डॉ. परमानन्द पंचाल
3. भारत की महान विभूति-अमीर खुसरो- व्यक्तित्व एवम् कृतित्व - डॉ. परमानन्द पंचाल, हिंदी बुक सेंटर, संस्करण-2013, पृष्ठ 17
4. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम पेपरबैक संस्करण, पृष्ठ 92
5. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम पेपरबैक संस्करण, पृष्ठ 92
6. वही, पृष्ठ 93

भक्ति की समृद्ध परम्परा तथा भारतीय अस्मिता के चिह्न गाँव, गाय, दूध और उससे जुड़ी अर्थव्यवस्था का ज़िक्र भक्तिकाल के कवियों के यहाँ मिलता है। कुंभनदास जब कहते हैं- ''तुमनी के दुहि जानत गैया'' तो वे भारतीयता के चिह्नों को उजागर करते हैं। रामभक्ति धारा के कवियों के केंद्र में राम हैं। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और उनका जीवन अनुशासित है। तुलसीदास 'रामकथा' कहते हैं और भारतीय अस्मिता की निरंतरता के सूत्र उस कथा से जुड़ते हैं। भारतीय संस्कारों की समृद्ध परम्परा तुलसी के यहाँ घनीभूत होती है। तुलसी श्रीराम के बाल्यरूप का वर्णन करते हैं, लेकिन उसमें सखा भाव की अपेक्षा आराध्य भाव अधिक है। सगुण-निर्गुण का झगड़ा यहाँ भी है परन्तु भक्ति के क्षेत्र में एक समन्वय-सा दिखता है। तुलसीदास कहते हैं-

अगुन सगुण विच नाम सुसाखी।
उभय प्रबोधक चतुर द्विभाषी।

वहीं कबीर भी जब भक्ति साधना में आते हैं तो 'राम' को अपना 'भरतार' कहते हैं। स्वयं को 'राम की बहुरिया' कह राम के गुण को रखते हैं। परहित, परदुःखकातरता, विनयशीलता कई ऐसे मूल्य हैं जिन्हें हम भारतीय अस्मिता के चिह्न भी कहते हैं- भक्तिकाल में आपको दिखेंगे।

रीतिकाल का साहित्य श्रृंगार का साहित्य है। कृष्ण भक्ति यहाँ भी है परन्तु राधा उस भक्ति की बराबर हिस्सेदार है। ज्ञानी, चतुर स्त्री का जो रूप रीतिकाल में मिलता है; संभवतः हिन्दी साहित्य में अन्य कहीं नहीं है। भारतीय अस्मिता के सन्दर्भ में यह एक महत्वपूर्ण बिंदु है जिस पर विचार किया जाना चाहिए।

बिहारी का पहला दोहा है-

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरी सोई,
जा तन की झाईं परैं स्याम हरित दुति होई।

बिहारी यहाँ कृष्ण से पहले राधा की स्तुति करते हैं। उद्देश्य स्पष्ट है कि राधा श्रीकृष्ण तक पहुँचने का मार्ग हैं- साधन हैं। वहीं श्रीकृष्ण के सर्वाधिक निकट हैं। स्मृतिकार मनु की इस बात से आप इसे जोड़ सकते हैं- 'जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है; वहाँ देवता वास करते हैं।' भक्तिकाल में स्त्री का जहाँ एक रूप ठगिनी या माया से जोड़ा जाता है; रीतिकाल में वह 'राधा नागरि' हो जाती है अर्थात चतुर-ज्ञानी स्त्री। नदी-नाले, गली-मोहल्ले, दालान, छत, बैठक, तीज-त्यौहार होली उनका पसंदीदा त्योहार है अर्थात भारतीय जनमानस; उनकी दिनचर्या रीतिकाल के साहित्य के केंद्र में है, यह सब कुछ राधा कृष्ण के प्रेम के बहाने से आते हैं। यहाँ प्रेम है; दर्शन नहीं है। यहाँ भारतीय अस्मिता की निरंतरता के सूत्र दिखते नहीं है, परन्तु जुड़े अवश्य हैं। कृष्ण भक्ति की परम्परा यहाँ विद्यमान है; रूप अलग है।

आधुनिककाल का सम्बन्ध वैचारिकता से है। माना गया कि गद्य आधुनिकता का वाहक बनेगा। ऐसा हुआ भी; परन्तु कविता का स्थान नहीं बदला। बदली तो केवल परिस्थितियाँ। नवजागरण काल ने मध्यकालीन बोध को हटा आधुनिक संवेदनाओं को बिठाया। पुराने से तालमेल बिठाकर चलना संभव था और ऐसा हुआ

भी। मध्यकालीनता और आधुनिकता के साथ आधुनिककाल का प्रारंभ होता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र गद्य खड़ी बोली में और कविता ब्रजभाषा में लिख रहे थे। भाषा के साथ-साथ, संवेदना के स्तर पर भी यह द्वंद दिखता था। प्राचीन और नवीनता की एकसूत्रता भारतेंदु हरिश्चंद्र के यहाँ मिलेगी। देश चिंता, राष्ट्र-निर्माण की संकल्पना के साथ वे साहित्य के क्षेत्र में उतरे थे। अपनी जमीन, अपनी भाषा; अपनी संस्कृति से जुड़ाव, प्राचीन वेदों उपनिषदों में भी मिलता है और कालांतर में भी यह निरंतरता भारतेंदु हरिश्चंद्र के यहाँ भी पाई जाती है और उनके बाद आने वाले तमाम नामी-गिरामी साहित्यकारों में भी मिलती है। जिनमें पं. अयोध्यासिहं उपाध्याय, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानंदन पन्त, नरेश मेहता, श्रीकांत वर्मा, कुंवर नारायण जैसे रचनाकार सम्मिलित हैं। मैथिलीशरण गुप्त की रचना 'भारत भारती' में हिन्दुओं की वर्तमान एवम भविष्य की दशाओं का चित्रण है। इसके अतिरिक्त 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'साकेत', 'यशोधरा', 'पलासी का युद्ध', 'सिद्धराज' में भारतीय अस्मिता के चिह्नों का नए ढंग से चित्रण मिलता है। इसके पूर्व पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'प्रिय प्रवास' कृष्ण को नए ढंग से प्रस्तुत करता है।

गौ चारण के बाद आते कृष्ण का चित्रण देखिये-

ककुभ-शोभित गोरज बीच से
निकलते ब्रज वल्लभ यों लसे,
कदन ज्यों करके दिशि कालिमा
विलसता नभ में नलिनीश है।[1]

श्रीकृष्ण से जुड़ी समृद्ध कृष्ण भक्ति परम्परा से यह अंश कितनी बेहतरी से जुड़ता है। यह ढंग काफी हद तक आधुनिक है। वैसा ही ढंग उनकी रचना 'वैदेही वनवास' में दिखता है। मैथिलीशरण गुप्त ने ऐतिहासिक रूप से उपेक्षित प्राचीन नारियों उर्मिला, यशोधरा का चित्रण कर आधुनिक संवेदना से प्राचीन संवेदना को एकसूत्रित कर दिया है। जयशंकर प्रसाद के मनु 'स्मृतिकार' से अधिक 'मनुष्य' दिखते हैं। यही आधुनिकता की पहचान है। निराला, 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति पूजा' में प्राचीन कथा को आधुनिक द्वंद से जोड़कर देखते हैं। तुलसी के राम द्वंद में नहीं है, निराला के हैं- संशय से घिरे हुए। वेदों में वर्णित प्राकृतिक सौन्दर्य का एक रूप पन्त के साहित्य में भी दिखता है। वे प्रकृति को मनुष्य की वैचारिकी से जोड़कर देखते हैं। आजादी के पश्चात् रचनाकारों में अज्ञेय, नरेश मेहता, श्रीकांत वर्मा तथा कुंवर नारायण ऐसे रचनाकार हैं जो प्राचीन भारतीय साहित्य को आधार बनाकर नए सवाल खड़े करते हैं। अज्ञेय की 'असाध्यवीणा', श्रीकांत वर्मा की 'मगध', कुंवर नारायण की 'आत्मजयी', जिसमें कठोपनिषद् को आधार बनाकर मृत्यु सम्बन्धी शाश्वत समस्या पर नयी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इसमें नचिकेता की कथा है इसके अतिरिक्त 'चक्रव्यूह' एवम 'वाजश्रवा के बहाने' रचनाओं में भी कुंवर नारायण प्राचीन भारतीय मिथकों का प्रयोग कर अस्मिता की निरंतरता के सूत्र जोड़ते हैं। नरेश मेहता

1. प्रिय-प्रवास, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2014, पृष्ठ 50, पद सं. 15

'संशय की एक रात' में रामायण की सेतु-बंध के पश्चात् की घटना को आधार बनाते हैं। 'युद्ध हो अथवा न हो' के बीच का संशय है। श्रीकांत वर्मा 'मगध' के बहाने राजसत्ता के चरित्र को उजागर करते हैं। सन्दर्भ ऐतिहासिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय अस्मिता कि निरंतरता के जो सूत्र आरंभिक सभ्यता में बने, वे आज भी उतने ही अधिक प्रासंगिक एवम सार्थक हैं। यही प्रासंगिकता एवम सार्थकता भारतीय अस्मिता की निरंतरता को समृद्ध करती है।

*****

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य

डॉ. ऋतु वार्ष्णेय गुप्ता[1]

संस्कृति एक सतत् प्रक्रिया है, जो व्यक्ति का परिष्कार कर उसे उन्नत बनाकर विशुद्ध मानव की कोटि तक पहुँचाती है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र का संशोधन और संस्कार करना ही संस्कृति है। यह विश्व के प्रति अनन्य मैत्री की भावना है जो समष्टि की भावना पैदा करती है। जो राष्ट्र का लोकहितकारी तत्त्व है। प्रबुद्ध विचारकों ने संस्कृत के चार तत्त्व माने हैं- 1. तत्त्वाज्ञान, 2. नीति, 3. विज्ञान, 4. कला। एक विद्वान ने कहा कि बाहर की ओर देखना विज्ञान है, अन्दर की ओर देखना दर्शन है और ऊपर की ओर देखना धर्म है, किंतु संस्कृति में धर्म, दर्शन और विज्ञान भी है और कला भी। संस्कृति जीवन का सार है। संस्कृति कोई क्रिया नहीं है, अपितु एक प्रकार से समस्त परम्परागत अर्जित व्यवहारों की विशिष्ट समाष्टि है, जो समाज के सर्वतोन्मुखी विकास एवं उसकी राष्ट्रीय चेतना के मूल में निवास करती है। 'ऐतरेय ब्राह्माण' में संस्कृति को स्वरूपित करने का प्रयास लक्षित होता है। वहाँ संस्कृति मानव के वैयक्तिक और समाष्टिगत उत्कर्ष की प्रतीति कराती है।

'आत्म संस्कृतिर्वाव शिल्पानि- एतैर्यजमान आत्मनं संस्कृरुते।[2]

'छन्दोग्योपनिषद्' ने मनुष्य को मानवतावादी चेतना से अनुप्राणित करने वाली दृष्टि को संस्कृति की अभिख्या प्रदान की है।

''कास्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्न जीवनव्यापरेषु सामाजिक सम्बन्धेषु वा मानवीयत्व दृष्ट्याप्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः।''[3]

संस्कृति का सम्बन्ध मूलतः मनुष्य की चेतना के संस्कारों से है।

संस्कृति का अध्ययन मानव-चेतना के आज तक के विकास का अध्ययन ही है और उसी में से उसके भावी विकास की संभावनाएँ भी बाहर आती है। कोई भी समाज अपनी सार्थकता जिन आदर्शों या मूल्यों की सिद्धि में स्वीकार करता है, वही आदर्श या मूल्य, संस्कृति की प्रकृति और स्वरूप का भी निर्धारण करते हैं, इसलिए संस्कृति को मूल्य-दृष्टि या सांस्कृतिक प्रक्रिया को मूल्यों के अर्जन की प्रक्रिया कहा जाता है। भारतीय संस्कृति में सहनशीलता और उदारता की भावना बड़ी प्रबल है। यही कारण है कि इसने दूसरी संस्कृतियों को

1. असिस्टेंट प्रोफेसर हिन्दी (एड हाक), किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

2. ऐतरेय ब्राह्मण-6/5/1

3. छांदोग्योपनिषद-8/4/1

भी आत्मसात् किया साथ ही अपनी विशिष्ट परम्परा पर आधारित विश्वास, आस्था को भी यथावत् रखा, साथ-ही-साथ अपनी सांस्कृतिक पहचान को भी मूर्त रखने का प्रयास करती रही। सभी प्रकार के विचार मत-मतान्तर वाली संस्कृतियाँ इस भारतीय संस्कृति के परचम तले अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई।

आज की प्रासंगिकता के संदर्भ में भारतीय संस्कृति पर नजर डाली जाए तो हम पाते हैं कि यह निरपेक्ष सिद्धान्तों की नींव पर खड़ी एक भव्य अट्टालिका है, जिसमें सभी को अपनी मान्यताओं को अनुगुंजित करने की स्वतंत्रता प्राप्त है। भारतीय संस्कृति किसी विशिष्ट जाति, वर्ग या समूह के उन्नति की इच्छा नहीं रखती, अपितु इसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम' जैसी सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की इच्छा समाहित है। भारतीय संस्कृति की पहचान हम गोस्वामी तुलसीदास की इन पंक्तियों द्वारा दे सकते हैं-

''कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुर सनि सम सब कह हित होई।।''

डॉ. रामधारी सिंह दिनकर ने भी इसे जीवन का एक तरीका माना है, जो सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में- ''सभ्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य अवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्दर के विकास का।''

डॉ. गुलाब राय जातीय संस्कार को ही संस्कृति के दर्पण में देखते हैं- ''जातीय संस्कार ही संस्कृति है, धर्म और संस्कृति में अन्तर केवल इतना ही है कि धर्म में श्रुति, स्मृतियों और पुराण ग्रन्थों का आधार रहता है। किन्तु संस्कृति में परम्परा का आधार रहता है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण के अन्तर्गत आक्सफोर्ड इंग्लिस डिक्शनरी में 'कृषि के द्वारा बुद्धि, आचार, व्यवहार का विकास एवं उनकी शुद्धता को संस्कृति माना गया है।' बेकन के अनुसार ''संस्कृति को मानवता का वह प्रयत्न कहा जा सकता है जिसमें वह अपने आन्तरिक स्वतन्त्र अस्तित्त्व को प्रभावपूर्ण ढंग से स्थापित करती है। ई.बी. टाइलर का मानना है कि 'संस्कृति ज्ञान, विश्वास, कलाकृति, नैतिक, नियम, आचार, व्यवहार तथा मनुष्य की अन्य उपलब्धियों को व्यक्त करने वाला शब्द है।''

ब्रोनिसलोव मलिनोस्कि का मानना है कि 'मानाव को राष्ट्रीय परम्परा से कलाएँ, जीवन का उपकरण, सांकेतिक विधाएँ, रहन-सहन, भावनाएँ और मान्यताएँ प्राप्त होती हैं, वे सभी संस्कृति के अन्तर्गत आ जाती है।'

भारतीय और पाश्चात्य चिन्तकों की संस्कृति विषयक परिभाषाओं की मीमांसा करने पर यह तथ्य सामने आता है कि, विचारकों ने संस्कृति के परिभाषा क्रम में कहीं भौतिक, कहीं आदर्शमूलक मत का प्रश्रय लिया है और कहीं समन्वयात्मक दृष्टि स्वीकार की है। संस्कृति का वास्तविक स्वरूप भावनाएँ, धारणाएँ एवं चेतनाएँ मिलकर ही निर्माण करती हैं। इस शब्द की परिधि में सभ्यता, सामाजिकता, साहित्य, कला, ज्ञान, विज्ञान, राजनीति, अर्थनीति, व्यक्तिगत चेतना' आदि सभी आ जाते हैं, जिसका संबल लेकर मानव लोक

कल्याण में संलग्न होता है।

'साहित्य' का अर्थ है शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव, अर्थात् 'साथ होना'। साहित्य मनुष्य के भावों और विचारों की समष्टि है। संस्कृति के अन्तर्गत चेतना और व्यवहार दोनों का सामंजस्य रहता है। दोनों को स्पर्श करता हुआ पुष्ट जीवन ही संस्कारमय कहलाता है। समाज में संकीर्णता को हटाकर सर्वोदय की भावना को प्रोत्साहित करने वाले साहित्य को ही हम साहित्य की संज्ञा दे सकते हैं। साहित्य किसी भी समाज का वास्तविक प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। किसी भी राष्ट्र का साहित्य वहाँ के जीवन-दर्शन, सभ्यता और संस्कृति के विकास का प्रमाण है, जो समाज में नयी प्रेरणा, आशा, और चेतना का प्रादुर्भाव करता है। साहित्य किसी भी देश अथवा जाति की भावात्मक एकता और अखण्डता की रक्षा का कवच होता है। ''साहित्य के माध्यम द्वारा भाषा के साथ, शब्द की उसके अर्थ के साथ सामंजस्यपूर्ण स्थिति ही स्थापित नहीं होती, वरन् मानव-हृदय का मानव हृदय के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ, मनुष्य के हृदय का बाह्य घटनाओं और दृश्यों के साथ मिलन स्थापित होता है।''

डॉ. रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं कि ''सभ्य मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने का एकमात्र साधन साहित्य है। यह जन मानस की अर्न्तबाह्य प्रतिछवियों का प्रकाशन करने वाला ज्ञान राशि का संचित कोष है, साथ ही यह किसी देश या काल की संस्कृति के ज्ञान का सर्वाधिक विश्वस्त प्रामाणिक आधार होता है।''

*****

भारतीय संस्कृतिः परम्परागत मूल्यों एवं आधुनिक मूल्यों का समन्वय

अमुक मित्तल[1]

विश्व में कतिपय राष्ट्र ऐसे हैं, जिनमें भौगोलिक परिवेश, शैक्षिक विकास एवं सांस्कृतिक संक्रमण के कारण सदैव कुछ न कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता ही रहता है। उनमें वैज्ञानिक अविष्कारों द्वारा कुछ चमत्कार करते रहने की होड़ सी लगी रहती है। विज्ञान, भूगर्भ-विद्या, समुद्रतल का अध्ययन, चिकित्सा एवं अंतरिक्ष विज्ञान आदि के माध्यम से इन विकसित एवं आधुनिक राष्ट्रों के लोग कुछ ऐसा कर जाना चाहते हैं, जिससे उनकी समूची सभ्यता ही किसी नये अवतार का रूप ग्रहण कर ले। वहीं दूसरी ओर इसी विश्व में कतिपय राष्ट्र ऐसे भी हैं जहाँ आज भी मानव आदिम संस्कृति का जीवन जी रहा है। कुछ लोग धरती पर आज भी पाये जाते हैं जिन्हें अभी तक माचिस के प्रयोग तक का ज्ञान नहीं है और वे चकमक पत्थर की रगड़ से ही अग्नि उत्पन्न करते हैं। पहिये के अविष्कार एवं वैज्ञानिक परिवर्तन की क्रान्ति से उनका सामुदायिक जीवन आज भी अछूता है। राष्ट्र की इन दोनों प्रकार की अवस्थाओं के अतिरिक्त भारत आधुनिकता एवं आदिमता के मध्य में खड़ा है। जैसे किसी व्यक्ति के संस्कारों, विचारों एवं कर्म से उसका व्यक्तित्व निर्मित होता है वैसे ही किसी राष्ट्र के संस्कारों, विचारों एवं कर्मों से राष्ट्र का व्यक्तित्व भी निर्मित होता है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में ''किसी राष्ट्र के संस्कारों, विचारों एवं कर्म से राष्ट्र की आत्मा राजनीति है, तो किसी का विज्ञान, किसी राष्ट्र को उसका व्यापार जीवनगति प्रदान करता है, तो किसी राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी उसकी शस्त्रजीविता है। ऐसे ही धर्म एवं दार्शनिकता भारत की आत्मा है। भारत पर शासन कर इसकी स्वतंत्रता छीन ली गई, उसके खनिजों एवं भूमि की उर्वरा शक्ति का दोहन किया गया, अनेकों अत्याचार कर यहाँ के लोगों के सहनशक्ति की परीक्षा ली गई। तब तक भारत के लोगों ने कोई प्रतिकार नहीं किया, किन्तु जब कभी भी यहाँ के धार्मिक-दार्शनिक जीवन में हस्तक्षेप किया गया यहाँ बड़ी से बड़ी क्रांति क्रियान्वित होने लगी।''[2]

''मोटे तौर पर परम्परा (Tradition) और आधुनिकता (Modernity) दोनों का सम्बन्ध सामाजिक परिवर्तन से है। भारतीय संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि भारतीय सामाजिक परिवर्तन की दिशा परम्परा से

1. शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

2. भारत में अर्वाचीन वेदान्त- स्वामी परमात्मानंद, पृष्ठ-90

आधुनिकता की ओर गतिशील है।''[1] Tradition शब्द की व्युत्पत्ति Tradere शब्द से हुई है जिसका अर्थ है आदान-प्रदान। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में भी 'परम्परा' शब्द परम्, अपरम् इन दो शब्दों के योग से बना है जिसका तात्पर्य है ''अदृष्ट पथ से दृष्टपथ को अनवरत प्राप्त थाती''। जिन्सवर्ग के अनुसार भी ''परम्परा से तात्पर्य उन सभी आदतों तथा रिवाजों के योग से है जो एक समाज में पाई जाती है तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है।''[2]

परम्परा से कुछ अलग आधुनिकता शब्द की व्युत्पत्ति 'आधुनिक' शब्द से हुई है, जिससे तात्पर्य आगन्तुक या नवागत विचारधारा को जीवन में धारण करना है। अंग्रेजी में Modern शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के Mod शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है 'वर्तमान प्रचलन' अतः जो वर्तमान युग में प्रचलित है, उसे ही आधुनिकता का नाम दिया जाता है।[3] जेम्स कोलमैन के अनुसार- ''आधुनिकता समाज के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाला परिवर्तन है।''[4] इस अर्थ में आधुनिकता बाह्यरूप से कभी थोपी नहीं जाती, अपितु व्यक्तियों द्वारा स्वेच्छा से स्वीकार की जाती है। स्मिथ के अनुसार-मानव जीवन में ''क्या हो रहा है'' से ''क्या बनना चाहते हैं'' की ओर क्रमिक रूपान्तर संभव करने की प्रक्रिया का नाम 'आधुनिकता' है।[5] यदि भारतीय संदर्भों में परम्परा एवं आधुनिकता की समीक्षा की जाए तो हम पाते हैं कि एक वर्ग भारतीय संस्कृति को बड़ी कठोरता से परम्परावादी मानता है। चूँकि भारतीय संस्कृति पौराणिक है। पुराण का अर्थ ''पुरा अपि नवं च'' पूर्वक किया जाता है, अर्थात् यह पुरा-प्राचीन मूल्यों को छोड़ता या उपेक्षापूर्वक दरकिनार नहीं कर देता, पुनः नवीन-नवागत का भी शास्त्रीय रूढ़िपूर्वक तिरस्कार नहीं कर देता, अपितु प्राचीन उचित मूल्यों में स्थिर रहते हुए नवीन उचित मूल्यों के स्वीकार हेतु प्रयास करता रहा है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति परम्परा एवं आधुनिकता के समन्वय पर आधारित है।

गाँधी जी भी भारत के इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण से सहमत एवं इसके हिमायती थे। उनके अनुसार भारत की उसके परम्परागत नैतिक मूल्यों, जीवनशैली सर्वभूतहितेरतः की भावना आदि पर सभी भारतीयों को गर्व होना चाहिए। युग में प्रचलित आधुनिकता की प्रवाह धारा में विवेकशून्य होकर बहने की बजाय अपना विवेकगत स्वत्व बनाये रखते हुए ही सर्वजन हितकर आधुनिकता को स्वीकार करना चाहिए। फिर भी परम्परा के कतिपय तत्त्व सर्वदा स्पृहणीय रहेंगे। गाँधीजी अपने सत्याग्रह में प्रयुक्त चरखा, स्वदेशी, नमक निर्माण, कुटीर उद्योग आदि विचारों को सोच-विचारकर स्वीकार्य मानते थे और प्रकृति पर सीधे निर्भर इन उपायों का

1. समाज और राजनीतिदर्शन एवं धर्म दर्शन- डॉ. रमेन्द्र, पृष्ठ-129
2. समाज दर्शन का सर्वेक्षण- डॉ. शिवभानु सिंह, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृष्ठ-307
3. समाज दर्शन का सर्वेक्षण- डॉ. शिवभानु सिंह, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृष्ठ-313
4. समाज दर्शन का सर्वेक्षण- डॉ. शिवभानु सिंह, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृष्ठ-325
5. समाज दर्शन का सर्वेक्षण- डॉ. शिवभानु सिंह, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृष्ठ-314

हिमायती होने को हम पोंगा-परम्परावाद कहकर हँसी में नहीं उड़ा सकते। आज आधुनिकता के अंधाधुंध अनुकरण का वीभत्स दुष्परिणाम विश्व के सम्मुख द्रष्टव्य है। रेल, विमान, कल-कारखाने, आयुध, शस्त्रास्त्र, उपग्रह, साइबर उत्पादन, रासायनिक खाद, खनिजों का अंधाधुंध दोहन आदि, जिसे हम आधुनिकता एवं मानव सभ्यता के शीघ्रातिशीघ्र विकास का माध्यम समझ रहे थे, इसने समूची मानव जाति को विनाश के जिस संभावी शिखर पर खड़ा कर दिया है वहाँ से गिरने पर इसकी दुर्गति का मन से भी अनुमान नहीं किया जा सकता। आज पुनः समाज को नैतिक शिक्षा देने, वंशानुगत व्यवसाय, कुएँ, तालाब, ग्राम्य संस्कृति, ध्यानगत एकांत आदि की आवश्यकता अनुभूत हो रही हैं, जिसे हमने निरा परम्परावाद कहकर अपने विकास के लिए बाधक समझ लिया था। ऐसा करना परम्परा एवं आधुनिकता को उनके सही अर्थ में न समझने के समान है। हम न तो स्वयं को इतिहास के आदिम युग की खूँटी से बाँधकर रख सकते हैं, और न ही अपने परम्परागत वजूद को मिटाकर एकाएक नितान्त नये स्वरूप को ग्रहण कर सकते हैं। वस्तुतः आधुनिकता की नूतन कोंपलें परम्परा की जड़ों से ही फूटती हैं। हम इन्हें नितान्त रूप में पृथक् नहीं कर सकते। भारत में जो आज वैज्ञानिक आधुनिकता आयी है वह अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि की प्राचीन परम्परा रह चुकी है तथा अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि में जो नैतिकता की आधुनिकता आएगी वह भारत की परम्परा में रची-बसी है। कोई एक दृष्टि से आधुनिक है तो दूसरी दृष्टि से परम्परावादी। ''भारतीय संस्कृति ग्रामीण जनता की नैसर्गिक संस्कारशीला वृत्ति है जो अनेकविध शिष्टाचरणों से युक्त रही है। इसकी गहराई में विश्व के सभी मनुष्यों के कल्याण के लिये चिरन्तर सत्य का बीज है।''[1]

भारतीयता 'ट्रैडिशन' न होकर जीवन्त परम्परा है। जहाँ 'ट्रैडिशन' का अर्थ है ज्यों का त्यों हस्तान्तरण वही परम्परा का अर्थ है 'प्राचीन श्रेष्ठ से नवीन श्रेष्ठतर की ओर प्रतिगमन।' परम्परा में पूर्ववर्ती प्रदत्तों का समावेश एवं उनका निरन्तर अनुशीलन-परीक्षण होता रहता है। पुराना होने मात्र से कोई मूल्य अच्छा नहीं हो जाता और न ही नया होने से निन्द्य। जिन्हें जीवन की कला मालूम है, वे परीक्षण करके ही एक का त्याग और दूसरे का वरण करते हैं, जो मोहग्रस्त हैं वे दूसरों की ही परीक्षण प्रक्रिया से संतुष्ट रहते हैं तथा उनका अंधानुकरण करते हैं। इस प्रकार आधुनिकता का अंधानुकरण करने वाले भी अपने आप में ट्रेडीशनल हैं एवं परम्परा का नित्य नूतन परीक्षण-अन्वीक्षण करने वाले भी अपने आप में आधुनिक हैं। मालविकाग्निमित्रम में कहाकवि कालिदास ने कहा है-

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।[2]

1. चिंतन के विविध आयाम, डॉ. दुर्गादत्त पाण्डेय, इलाहाबाद, पृष्ठ-22
2. कालिदास-उद्धृत, वही, पृष्ठ-29 (चिंतन के विविध आयाम)

भारतीय संस्कृति परम्परा में आधुनिकता की संस्कृति है। यहाँ उसी पुराण पुरुष विष्णु का नित्य नूतन परिवेश में नया-नया आधुनिक अवतार होता रहता है। इस संस्कृति में अंशतः स्वीकार और अंशतः परिहार होता है। दोष हटाकर गुणों का आधान किया जाता है। भारतीय संस्कृति का कोई निर्धारित आकार नहीं है। यह अनेकता में एकता की संस्कृति है। हर सूर्योदय में यह नयी होती है, हर दोपहर में प्रखर होती है, हर संध्या में ध्यानमग्न होती है, हर चांदनी में स्वप्नाविष्ट होती है और बिना मरे ही नया जन्म लेती रहती है। भारतीयता की यही गौरवपूर्ण विशिष्टता रही है कि यह परम्परागत मूल्यों में आधुनिक मूल्यों की सतत् विशिष्ट विवेकपूर्ण पहचान करती रही है।

*****

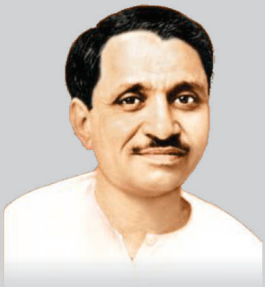

राष्ट्र का अस्तित्व बहुमत और अल्पमत पर आधारित नहीं रहता। राष्ट्र की स्वयंभू सत्ता है। वह स्वयं प्रकट होती है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में विभिन्न इकाइयों की स्थापना कराती है। ये विभिन्न इकाइयाँ जिनमें राज्य भी एक है आपस में परस्पर अनुकूल होकर कार्य करें और राष्ट्र शक्ति को मजबूत करने के लिए अथक प्रयत्नशील हों इसके लिए आवश्यक होता है कि राष्ट्र को सदैव जाग्रत रखा जाय।

- पं. दीनदयाल उपाध्याय

हमारी शिक्षा का पहला पाठ हमारे इस आध्यात्मिक राष्ट्र की पहचान को हृदयंगम कराने वाला होना चाहिए। यही सम्पूर्ण भारत की मौलिक एकता प्रदान करने का आधार है। यही भावनात्मक एकता प्रस्थापित करना हमारी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का प्रथम चरण है। आज हम इस अभिव्यक्ति से वंचित हैं। सेक्युलर पाठ्यक्रम हमें इस अभिव्यक्ति से रोकता है। यह हमारे सांस्कृतिक स्वातंत्र्य में बाधक है।

- अशोक सिंहल

अरुंधती वशिष्ठ अनुसन्धान पीठ

महावीर भवन, 21/16, हाशिमपुर रोड, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-211002
फोन एवं फैक्स : 91-532-2466563, मो0 919453929211
E-mail : nationalthought@gmail.com
Web : www.avap.org.in

2230-7001

Price : 150/-